

TEXT FLY AND DAMAGE BOOK

*Brown Book And Text
Cross With In The
Book Only*

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_178863

UNIVERSAL
LIBRARY



H83

S56L मधु

गीताञ्जलि प्रकाशन
इलाहाबाद

OUP—787—13-6-75—10,000.

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. 1783
556 L Accession No. P.G. H 581

Author श्रीवास्तव ओम्प काश

Title लकीर .

This book should be returned on or before the date last marked below

लकीरें

[एक सामाजिक उपन्यास]

ओम प्रकाश श्रीवास्तव



It matters not how straight the gate,
How charge'd with punishments the scroll
I am the master of my fate
I am the captain of my soul.

E. W. Henley.

घर की तमाम किलबिल कोठे के दामन में पनाह ले चुकी थी। सामने की मेज़ पर लम्बे साइज़ के अखबारों के कुछ नम्बर चुने हुए थे, कई गुमची मैगज़ीनों, कुछ लिखे कागज़, जो बेतरतीबी से एक डिक्शनरी से दबा दिये गये थे। मोटे कागज़ को चारों तरफ़ से गुमेच कर बनाया हुआ ऐश-ट्रे, जिसमें काफी राख और दियासलाई की टूटी तीलियाँ नज़र आ रही थीं। कोने में रखा हलके नीले रंग का एक टेबुल-लैम्प मेज़ की सारी चीज़ों को हिक्कारत भरी नज़रों से घूर रहा था।

गर्मी के मारे दम घुट रहा था। पर सिन्हा साहब ने अन्दर की सिटकनी चढ़ा दी। मेज़ के पास की अलमारी का ताला खोल कर, देर तक अन्दर की किताबों को देखते रहने के बाद उन्होंने एक किताब निकाली और फिर उसकी जिल्द खोल कर उसके अन्दर से एक लिफ़ाफ़ा निकाला, जिस पर

विदेश की मुहर लगी हुई थी। अन्दर के कुछ टाइप किये हुए कागज़ों को निकालकर वे पढ़ने लगे। देर तक पढ़ने के बाद उन्होंने कागज़ों को किताब के अन्दर दबा दिया और अपनी हथेली को लैम्प के सामने ला, देर तक देखते रहे। फिर किताब एक जगह से खोलकर पढ़ने लगे। किताब 'चीरो' की 'हाथ की भाषा' (Language of the hand) थी।

उनका हड्डियोंदार चेहरा साये में था पर उनके मुरझाये हुए से पतले हाथ रोशनी में थे। बहुत ही लम्बी और सिकुड़ी पोरों वाली नोकीली उँगलियाँ और सूखा-सा हाथ !

काफ़ी देर के बाद उन्होंने किताब बन्द की। उसे अलमारी में रखकर ताला लगाने के बाद एक लम्बी साँस लेकर वे उठ खड़े हुए। लैम्प बुझाकर वे बाहर आये और अन्धों की तरह टटोलते हुए सीढ़ियों पर चढ़ने लगे। एक ठंडी हवा का झोंका उनसे लिपट गया और वे ठिठकते हुए आगे बढ़ चले।

ऊपर बाँसुरी की मीठी लय बिखर कर वातावरण में फैल रही थी। रवि बाँसुरी बजा रहा है। रवि भी खूब है—इस दुनियाँ के सारे अभाव, सारी घुटन और गन्दगी के बीच भी जैसे उसने अपने व्यक्तित्व के गिर्द एक स्वप्निल रेशमी जाल-सा बुन रखा है, जिसके अन्दर बैठा-बैठा वह सदैव मुस्कराता रहता है। आशा और बिनोद कोने में अपने बिस्तरों पर लेटे घुसुर-घुसुर कर रहे थे। ऊषा कुहनियों को तकिये पर टेके, उनपर सर टिकाये, पता नहीं किन विचारों में खोयी थी, और माधुरी सर के पास लैम्प रखे कुछ पढ़ रही थी। उसके पास एक चारपाई थी जिस पर सिन्हा साहब की पत्नी बैठी थीं—जिन्हें पता नहीं कैसे बच्चे बुझा कहकर पुकारने लगे थे। इस समय वे छोटी बच्ची को दूध पिला रही थीं। उसके बाद फिर

जमीन पर दो बिस्तर थे—एक पर कोने में बैठा रवि बाँसुरी बजा रहा था और दूसरा सिन्हा साहब का बिस्तरा खाली था।

सिन्हा साहब अपने बिस्तरे पर जा लेते। दो मिनट तक बाँसुरी की स्वर-लहरी भटक-भटक कर सितारों के साये के नीचे फैलती रही, फिर रवि ने बाँसुरी ओठों से उतारकर बगल में रख दी।

एक लहमे के लिए सजाटा गहरा हो गया।

बगल वाले कोठे पर एक आकार दिखायी दिया और राघव बाबू का भारी स्वर उभरा, “अमाँ रवि, आज तो तुमने कमाल कर दिया।” रवि उत्साह में भरकर खड़ा हो गया और दीवार के करीब आता हुआ बोला, “कैसी रही बाबू साहब ! पूरी गत आज ही निकल पायी है।”

“खूब, क्या कहने हैं ! सिन्हा साहब को छुट्टी मिल गयी ?”

“जी हाँ !”

“भाई समझाते क्यों नहीं तुम लोग उन्हें। जायेंगे ही, मानेंगे नहीं ?”

रवि चुप रहा।

दूसरे कोठे से आवाज़ आयी, “भाई, खतरे का काम कर रहे हैं। अगर कहीं पता चल गया तो रोज़ी पर आ बनेगी। फिर आखिर हो भी क्या जायगा ? हाँ, बेकार में चार-छः सौ पर पानी फिर जायगा। अभी पुत्तन आया था, कहता था कि कलकत्ते में सौ-सवा-सौ पाने वाले तक सड़क पर सोते हैं।”

“इसमें क्या शक है।” रवि बोला, “रहन-सहन तो वहाँ का काफी मँहगा है ही।”

राघव बाबू का आकार गुम हो गया और दूसरे कोठे से आपस में

कुछ बातें करने की अस्पष्ट ध्वनि आने लगी। रवि घूमता हुआ कोठे के दूसरी तरफ़ आ गया और मुँढेर के नीचे झोंकने लगा। दूर पर म्युनिस्पेलटी की धुँँदार काली बत्ती टिमटिमा रही थी जैसे अँधेरे का मुँह चिढ़ाने की नाकाम कोशिश कर रही हो। नीचे दोनों तरफ़ रहने वालों की चारपाइयाँ बिछी थीं और यह गली उन सब का सम्मिलित आँगन-सी लगती थी। बूढ़ा जुम्मन अपनी चारपाई पर लेटा अब तक ख़ाँस रहा था।

“क्यों जुम्मन मियाँ! सोये नहीं?” रवि ने अपनी तेज़, सुरीली आवाज़, अँधियारे में गुब्ब-मुब्ब हो रहे आकारों में जुम्मन को लक्ष्य करके नीचे गिरा दी।

“कहाँ बाबू! दो रोज़ से तबीयत ठीक नहीं है। दूकान भी नहीं गया। अब तो जान के साथ जायगी यह ख़ाँसी! ऊपर से क़यामत की गर्मी तो और भी मारे डालती है।”

दो मिनट बाद रवि फिर अपने बिस्तरे पर आ गया।

माधुरी बोली, “मामा जी ‘डेन्जरस’ माने?”

“ख़तरनाक,” रवि ने बताया और फिर सिन्हा साहब की ओर मुड़ कर बोला, “सो गये जीजा जी?”

“नहीं तो,” वे सितारों पर दृष्टि गड़ाये हुए बोले।

बच्ची सो गयी थी इसलिए गृहणी को मुहलत मिल गयी थी; परेशान, सहमे स्वर में बोली, “बाबू साहब से बात-चीत हो रही थी, सभी की राय है कि.....”

सिन्हा साहब बीच में ही भड़क उठे, “सब की राय है कि मैं सप्तर रुपये पर क्लर्क करते-करते एक दिन आँखें मूँद लूँ और मेरे बच्चे दर-दर भीख माँगते फिरें, यही न!”

“बात यह है कि जीजा जी,” रवि अपने तेज़ स्वर को धीमा बनाते हुए बोला, “पर इस तरह.....”

“रवि तुम नौजवान होकर भी इस तरह की बातें करते हो। जो आदमी खतरा नहीं उठा सकता वह कुछ पाता भी नहीं है। पालमैन इन्सटिट्यूट का खत तो तुमने पढ़ा है। मैंने पूरा निश्चय कर लिया है कि मुझे अपना कैरियर बदलना ही होगा।” सिन्हा साहब लेटे-लेटे बोले।

रवि चुप ही रहा।

सिन्हा साहब ने उसे विस्तार से समझाने पर कमर बाँधी, “आखिर ज़रा तुम ही अपने को मेरी जगह पर रखकर सोचो। इतनी बड़ी गृहस्ती—इतने बच्चे—इतना खर्च और सत्तर रुपये महीने! जानते हो आठ-दस बरसों से मैंने अपने लिए कपड़े नहीं बनवाये हैं। बेबी की पैदाइश का हाल जानते ही हो, अब तक तुम्हारी जीजी का स्वास्थ्य नहीं सँभला है। दवा भी क्या हो सकती थी, वह तो कहो कि राघव बाबू के जान-पहचान का वह डाक्टर शर्मा बिचारा भला आदमी है, समय-कुसमय इन्हें देखकर कुछ-न-कुछ राय दे ही देता है! लड़के से उम्मीद थी कि पढ़-लिख कर चार पैसे की मदद देगा, वह आवारा निकल गया, पता नहीं कहाँ है—मरा या जीता है.....”

गृहणी ने तीव्र भर्त्सना का रुख अक़्त्यार किया, “लड़के को क्यों कोत्ते हो? जहाँ रहे, खुश रहे.....” और उनका स्वर भर्रा गया और वे चुप हो गयीं।

सिन्हा साहब कहते गये, “ऊषा की शादी होनी ही चाहिए, उसे स्कूल से उठाना पड़ा। ठीक से पढ़-लिख भी न सकी। फिर माधुरी तैयार हो जायगी। बिनोद, आशा, बेबी.....” आगे सिन्हा साहब का दिमाग़ बुँधला

गया और वे चुप हो गये। एक लम्बी साँस लेकर वे बोले, “कम-से-कम जितना हाथ-पैर मार सकता हूँ, उतने से तो बन्द न रहूँगा, फिर जो हो... फिर साल भर की ही तो बात है। क्यों न आजमा देखूँ ? पहले आफ़िस के बाद प्रैक्टिस करूँगा, अगर नौकरी के साथ निभा सका तो ठीक, वरना नौकरी छोड़ दूँगा।”

रवि ने फिर साहस किया, “पर जीजा जी, हर गली-कूचे में दर्जनों डाक्टर-हकीम भरे पड़े हैं, क्या हो जायगा। फिर होम्योपैथिक को लोग मज़ाक़ से कुछ ही ऊपर की चीज़ समझते हैं।”

कहने को तो रवि कह गया पर उसे कोफ़्त होने लगी कि कहीं अभी सिन्हा साहब अपनी आदत के अनुसार होम्योपैथिक और एलोपैथिक की तुलना न छेड़ बैठें। हज़ारों बार वह उन्हीं बातों को सुनते-सुनते ऊब उठा था। पर इस समय सिन्हा साहब दूसरे ही मूड में थे इसलिए बोले, “ठीक है, पर सब देखते हुए हाथ-पर-हाथ रखकर बैठे रहना भी मुझसे नहीं होता। मैं तो दूकान करने से लेकर सट्टा खेलने तक, सभी के लिए तैयार हूँ—लेकिन पूँजी ? ख़ैर यह डिप्लोमा लेकर प्रैक्टिस करने पर कुछ तो आमदनी बढ़ेगी ही। माना कि गली-कूचे में हकीम-डाक्टर भरे पड़े हैं.....पर सभी कमाते-खाते भी हैं।”

रवि ने एक बार फिर कोशिश की। उसे सिन्हा साहब के जाने की बात से सबसे बड़ी चिन्ता यह थी कि उनके चले जाने के बाद घर-गृहस्ती का सारा भार उसी पर आ पड़ेगा और यह उसे पहाड़ लगता था—एक साल ! वह बोला, “आखिर यहाँ भी तो होम्योपैथिक कालेज हैं.....।”

सिन्हा साहब लाल कपड़ा दिखाये हुए साँड़ की तरह भड़क उठे, “तुम भी बच्चों जैसी बातें करते हो। मैं उपहास की वस्तु नहीं बनना चाहता।

लोग कहेंगे यह भी सींग कटाकर बछड़ों में शामिल होने चले हैं। दूसरी बात यह है कि मेरा विश्वास है कि जो काम किया जाय वह ढंग से किया जाय या बिल्कुल न किया जाय। तुम्हारे नज़दीक कलकत्ते के प्रसिद्ध कालेज की पढ़ाई और लखनऊ की पढ़ाई में कोई अन्तर ही नहीं है।”

रवि खामोश हो गया। थोड़ी देर बाद गृहणी ने सहमे स्वर में पूछा,
“तो माधुरी को.....”

“हाँ, इस वक्त्र स्कूल से उठाना ही पड़ेगा। रवि से पढ़ती रहे, प्राइवेट दे देगी एकदम से मैट्रिक का इम्तहान, या फिर मेरे लौटने पर देखा जायगा।”

माधुरी दूसरे शब्द के माने पूछने ही जा रही थी कि सहसा सिन्हा साहब के शब्द उसके कानों में पड़ गये। उसे एक धक्का सा लगा। किताब की लाइनें सजीव होकर एक-दूसरे पर चढ़ दौड़ीं। अक्षर एक-दूसरे से घुल-मिलकर धुँधला उठे। उसने अपनी जीजी ऊषा की ओर देखा, जो अपनी कुहनियों पर सिर रखे-रखे सो चुकी थी। उसके सामने लैम्प का प्रकाश धुँधला गया और एक लम्बी साँस ले उसने लैम्प गुल कर दिया। उसके कानों में बीना, मंजू और शीला के ठहाके बज उठे जिनमें कभी वह भी एक थी।

अंधकार ने सिन्हा साहब की छत पर एक स्याह चादर तान दी।

अंधियाले में आकाश के सितारे और भी चमकीले नज़र आने लगे। सिन्हा साहब की आँखें एकटक आकाश को ताक रही थीं—जैसे वे उनमें अपने उज्ज्वल भविष्य का विवरण पढ़ने का प्रयास कर रहे हों।

सिन्हा साहब के घर की पहचान यह थी कि उनके घर के ऐन सामने, सबक के पार एक मकान का खण्डहर था। तीन तरफ की दीवारें रोती-भीकती खड़ी थीं और बायीं ओर की छत गिर चुकी थी। इस तरह सबक के समानान्तर दूसरी सबक तक जाने का रास्ता बन गया था। दूसरी सबक में ही नीचे रहने वाले कुंजड़े—जुम्मन—की दुकान थी। इस सबक के रहने वाले उसी दुकान से सब्जी खरीदते थे। सामने के मकान के गिर जाने से एक फायदा यह हो गया था कि अब छोटे-छोटे बच्चे भी, जिन्हें पहले चौराहा पार कर, दूसरी सबक से घूम कर दुकान तक पहुँचने के लिए घर वाले न भेजते थे, अब मकान के बगल से होकर दूसरी सबक पर पहुँच कर तरकारी ला सकते थे। खण्डहर की बगल में एक छोटी सी कोठरी, जो शायद उन्ही मकान का हिस्सा थी, अब तक साबुत थी जिसमें एक बुढ़िया रह करती थी।

इस खण्डहर के ऐन समाने दूसरी ओर दो सीढ़ियाँ थीं और हरे मटमैले रंग का एक भद्दा सा दरवाज़ा। यही सिन्हा साहब के घर का रास्ता था। दरवाज़ा खुलते ही एक पतले से गलियारे से गुज़रना पड़ता था, जहाँ कभी दो, कभी तीन और कभी चार तक साइकिलें हो जाती थीं और लाख बचकर निकलने पर भी, अक्सर कपड़े साइकिलों के कैरियर या बिना पैडिलों के राड में फँसकर 'चर्र' की आवाज़ कर उठते थे और जाने वाला अपनी क्रिस्मत को कोसता रह जाता था। साइकिलों के स्थान की बगल में एक गुफ़ा की तरह का रास्ता था, जिसके छोर पर एक टीन का दरवाज़ा लगा था—यह 'लेट्रिन' था, जो आने-जाने वाले लोगों को दुर्गन्ध द्वारा अपने अस्तित्व की याद दिलाता रहता था।

गुफ़ा को छोड़कर कुछ आगे बढ़ने पर साइकिलों वाली दीवार के विरुद्ध एक टीन का हरे रंग का दरवाज़ा पड़ता था, जो एक असीत लम्बाई-चौड़ाई के कमरे में खुलता था। इस कमरे में सड़क की ओर दरवाज़े के आकार की तीन खिड़कियाँ थीं, जिनमें दो में पूरे और बीच वाली में आधी दूर तक जंगले लगे थे। बाहर से देखने पर यह कमरा चक्की, प्रेस या ऐसी ही किसी मशीन के फिट करने के उद्देश्य से बनाया गया जान पड़ता था। इसमें हिन्दी जगत के यशस्वी कहानीकार ज्ञान जी मय अपनी पत्नी और बच्चों के रहते थे और गलियारे की साइकिलों की संख्या उनके मिलने वालों की संख्या की सूचना दिया करती थी।

ज्ञान जी की आयु होगी करीब तीस वर्ष, सॉवला रंग और नाटा क़द। दाढ़ी और मूँछों के स्थान पर बालों के कटीले तारों की खूटियाँ सदैव उभरी रहती थीं। रोज़ शेव करते थे पर खूटियाँ सदैव छूट जाती थीं। सिर्फ़ कहानियाँ लिखते थे। आठ-दस किताबें उनकी निकल चुकी थीं। उनका मत

था—जीवित कलाकारों में जैनेन्द्र और अज्ञेय की गणना हिन्दी के प्रथम-कोटि के कहानीकारों में होती है। उसके बाद फिर स्वयं उन्हीं का स्थान है। टैगोर के अनुकरण पर मोटे खदर के चुगा-नुमा कुछ कुर्ते उन्होंने सिलवा रखे थे। खदर के अतिरिक्त वे कुछ पहनते न थे, इससे मजबूरी थी। खदर का पायजामा पहन जिस समय वे उस टैगोर टाइप चुगे की पहन लेते थे, तो सचमुच उनका व्यक्तित्व बड़े गम्भीर दार्शनिक जैसा लगने लगता था—कम-से-कम उनके शीशे की यही राय थी !

बड़े गुमसुम 'हनी-मुनी' टाइप के व्यक्ति थे। इस समय सरकार के 'इन्फारमेशन ब्यूरो' में काम करते थे। हर इतवार के दिन नक्खास जाते और सड़कों पर खड़े रहकर रही किताबों को उलटते रहते, तीन बजे के करीब छोटा सा पुलिन्दा बाँधकर घर लौटते। फिर रात के दो-तीन बजे तक उन पुस्तकों को पढ़ने में व्यस्त रहते और सिर खुजला-खुजला कर उनसे प्रेरणा ले कहानियाँ लिखते थे। मुहल्ले के नवयुवक विद्यार्थियों में उनका बड़ा मान था।

उनकी पत्नी दोहरे शरीर, गोरे रंग की, चेचक के दागों से युक्त चेहरे वाली स्वस्थ युवती थी। उनके नाम से भी बच्चों की कहानी की एक किताब निकल चुकी थी जिसे छात्र जी की उर्वर कलम ने जन्म दिया था। छात्र जी अगर शुद्ध कलाकार थे तो उनकी पत्नी शुद्ध गृहणी ! अपने पति को उन्होंने कला की साधना के लिए मुक्त कर रखा था। गृहस्थी के सारे काम उनके सुदृढ़ कंधों के द्वारा परिचालित होते थे। आटा पिसाना, तरकारियाँ लाना, राशन के अलावा चक्की वाले से अतिरिक्त गेहूँ का प्रबन्ध करना; मिट्टी के तेल, शक्कर इत्यादि का स्टोक जुटाना, खाना पकाना, छात्र जी के विचित्र कुर्ते सीना, कपड़े धोना, और उनपर इब्नी करने तक

का सारा काम उन्होंने सँभाल रखा था। बच्चों की देख-भाल, पढ़ाई-लिखाई से भी छात्र जी को कोई सम्बन्ध न था। उनका मत था कि ये काम औरतों के हैं। उनकी गृहस्थी का सारा बजट-विभाग उनकी श्रीमती के हाथों में था।

उनके दो सन्तानें थीं। एक लड़की गुड्डी जो चार-पाँच साल की होगी, जिसका सर हमेशा खुजली से सड़ा रहता था। दूसरा था उनका लड़का कुनमुन, जो ढाई-तीन साल का होगा। फूला-सा पेट, गंदे कपड़े और सदैव भूखा रहता था। मकान में सभी के यहाँ घूमता था और विशेषकर नाश्ते और खाने के समय तो किसी-न-किसी किरायेदार को अपनी मौजूदगी से अवश्य अनुगृहीत करता था। खाने की ओर टकटकी लगाये देखता रहता और कुछ पा जाने पर जल्दी से चल देता, जैसे डर हो कि मिली चीज़ छिन न जाय। गुड्डी में भी यह आदत मूल रूप से वर्तमान थी, लेकिन उसमें छात्र जी की चुप्पी भी शामिल हो गयी थी। कुनमुन के कुछ पा जाने के बाद वह भी उसे खोजती हुई वहाँ पहुँचती और उसे न पाने पर भी वहीं डटी रहती, अगर कोई कुछ देता तो पहले सर हिलाती, फिर उसे लेकर सर खुजलाती हुई चल देती थी।

लोगों को इस विषय में सदैव कौतूहल रहता था कि इस इतनी गर्मी में भी छात्र जी समस्त परिवार के साथ उसी कमरे में कैसे सोते हैं। पर अब लोग उनकी चटाई पर बिछी दरी के आदी हो गये थे। छात्र जी कहते, “साहित्य सृजन तो साधना है। बिना कष्ट उठाये सिद्धि कहाँ से मिल सकती है।”

छात्र जी के कमरे के प्रवेश-द्वार के ऐन सामने जो दरवाज़ा था, वह मकान के बाहर एक छोटे-से तीन फुट चौड़े चबूतरे पर खुलता था। चबूतरे के साथ ही लगा जो दूसरा दरवाज़ा था वही जुम्नन का निवास-स्थान था।

जुम्नन तरकारियों की दूकान करता था और जब तक घर पर रहता था नारियल गुड़गुड़ाता और खाँसता रहता था। पहले इससे चात्र जी की साहित्य साधना में काफी विघ्न पड़ता था। पर अब वे अभ्यस्त-से हो चले थे। फिर भी इस चबूतरे वाले दरवाजे को वे यथाशक्ति बन्द ही रखते थे।

चबूतरे के नीचे कूड़े, तरकारियों के छिलकों और हड्डियों का अम्बार-सा लगा रहता था। म्युनिस्पेलिटी का जमादार भी इधर कम ही ध्यान देता था। नीचे से होकर नाली बहती थी, जिसकी दुर्गन्ध सड़क तक पहुँचा करती थी।

जुम्नन के पास एक कोठरी थी जिसके दरवाजे धुएँ की अधिकता से काले हो चले थे। उसके साथ उसकी जवान लड़की नसीबन भी रहती थी, जिसके पति ने उसके गहने-कपड़े छीन कर घर से निकाल दिया था। नसीबन ने भी घोषणा कर रखी थी कि अब वह उसके जनाजे में भी न जायगी। बाप की लाइली थी, वह भी मजबूर था। उसे कुछ कह न पाता था लेकिन चाहता था कि ससुराल वालों से कोई समझौता हो जाय तो उसे चैन मिले।

इस समय वही अपने बाप की दूकान का काम सँभाले थी। जवानी से गदराया बोझिल शरीर, साँवला रंग, आँखों में सुर्मे की बारीक लकीरें और मुँह में रचा हुआ पान ! उसके कदम धरती पर इस शान और विश्वास से पड़ते थे जैसे सारी धरती उसकी है और इस शान से जब वह अपने बाप की सब्जी की दूकान पर बैठती थी तो देखने वालों के दिलों में कचोट पैदा हुए बिना न रहती थी।

इसके बाद उस मकान की हद खत्म हो जाती थी और ज़रा-सा रास्ता छोड़कर फिर कुंजड़े, धोबियों और चमारों के कई दरबे थे। उसके बाद

रेलवेलाइन पड़ती थी और अगर बीच में ये घर, ये छप्पर-खपरैल और पेड़ों की आड़ न पड़ती तो सबक से काफी दूर पर ट्रेन जाती देखी जा सकती थी ।

गली में हरदम—कथित नीच जातियों के बच्चों का—तूफान-सा मचा रहता था । गन्दे-बीमार सिसकते हुए बच्चे ! धूल-मिट्टी में सने, नाकें बहती हुई—आँखों में कीचड़, एकदम नंगे या कमर में काला धागा बाँधे बड़ी उमर तक के बच्चे भी घूमा करते । भगड़ते, गालियाँ बकते—सबक के कुत्तों और भिखारियों पर पत्थर फेंकते । लड़कियाँ, जिनके सर के बाल इतने चिकटे और उलझे रहते कि बया के घोंसले का अनुमान होता था—सुबह टोकरियाँ लेकर गोबर और लीद बटोरने चल देतीं और फिर दोपहर या तीसरे पहर लौटती थीं ।

च्चात्र जी के आँगन की दीवार खत्म होते ही कोने में एक ज़ीना था, जो दूसरी मंज़िल को जाता था । इस ज़ीने के नीचे काटकर जो कोठरी बनायी गयी थी वह उनके किचन का काम देती थी । आँगन में उसके सामने ही नल पड़ता था । ज़ीना कुछ घुमावदार था । पहले मोड़ पर बगल में एक कोठरी छूट जाती थी जिसके सामने टाट का एक पर्दा टँगा था । वह सिन्हा साहब का बाथरूम था । आगे ज़ीना अंग्रेज़ी के 'एस' (S) अक्षर की तरह एक साथ दो मोड़ लेता था । एक सिन्हा साहब के मुख्य कमरे में पहुँचाता था और दूसरा मोड़ तिमंज़ले पर जाता था, जहाँ सिर्फ़ छत और एक कोठरी थी ।

अंग्रेज़ी के एस (S) अक्षर के मोड़ में बाथरूम के दाहिनी तरफ़ वाले दरवाज़े से अन्दर घुसने पर एक बड़ा—सा कमरा मिलता था । इसमें तीन

ओर दरवाज़े और सड़क की ओर खुलने वाली एक खिड़की थी, जो खण्डहर के ऐन सामने पड़ती थी। जीने वाले दरवाज़े के ठीक सामने कमरे का दूसरा दरवाज़ा था, जो जुम्मन की गली की ओर था। यह एक तीन फुटी गैलरी थी जिसके सामने छोटे जंगले लगे थे। इस पर अधिकतर लकड़ी और कोयलों का स्टॉक रखा जाता था। कमरा वैसे तो खुला और कुशादा था पर सामान की अधिकता से भरा-भरा दिखता था। जीने वाले कोने में मेज़ थी, जिस पर सिन्हा और रवि का सम्मिलित क़ब्ज़ा था। इसी मेज़ के पास छोटी सी अलमारी थी जिसमें सिन्हा की पामिस्ट्री की किताबें थीं। कमरे के बीच में दो पलंग थे जिनपर बिस्तरों का अम्बार लगा रहता था। गैलरी में खुलने वाले दरवाज़े की बग़ल में चार-पाँच ट्रंक लगे थे। इन बक्सों से एक दूसरी मेज़-सी बन गयी थी, जिस पर दवाओं की लेबिलदार शीशियाँ, चाय के प्याले, बेबी के दूध की शीशी, अचार का मर्तबान और इसी किस्म की चीज़ें बिखरी थीं।

खण्डहर के सामने खुलने वाली खिड़की के पास एक लम्बा सा आइना लटका था जो किसी बड़े आइने की फ़ूटन से निकला जान पड़ता था। वहीं ताक़ पर दो कंधियाँ और तेल की शीशी भी थी। खिड़की की बग़ल में एक कुर्सी पड़ी थी जिस पर बच्चों के पढ़ने की किताबें, क़लमें इत्यादि बेतरतीबी से पड़ी थीं। नीचे दो मैले गेंद, काठ का एक टूटा घोड़ा और एक सिलोलाइड का झुनझुना भी था।

कमरे का तीसरा दरवाज़ा जीने वाली दीवार के समकोण (right angle) वाली दीवार में था, यह आँगन में खुलता था। पर यथार्थ में आँगन कहीं न था। आँगन नीचे ज़ात्र जी वाला ही था। यहाँ उसके क्षेत्र को काठ के एक रेलिंग से घेर दिया गया था जिससे उसके चारों ओर एक

दो-फुटी गैलरी निकल आयी थी। कमरे की सीध में इस गैलरी में पहले एक दरवाज़ा पड़ता था जो तीसरी मंज़िल को जाने वाले ज़ीने के सामने खुलता था। आगे चलकर इसी गैलरी से मनुष्य रसोई-घर में पहुँचता था। यह एक कोठरी थी जिसमें दरवाज़े की बग़ल में नल और दूसरी ओर दीवार में एक खिड़की थी जो जालियों से घिरी थी। एक ओर चूल्हा था और दूसरी ओर टीन के डिब्बों में राशन, टोकरी में तरकारियाँ, कुछ लकड़ियाँ तथा कोयले इत्यादि रहते थे। नल की बग़ल में एक टीन का बाल्टा रखा रहता था जिसमें सुबह चार बजे उठकर पानी भर लेना पड़ता था। क्योंकि उधर पानी चार से छै बजे तक ही चढ़ता था। फिर दिन भर इस बाल्टे के पानी से काम चलता था या फिर बाल्टियों में नीचे से लाना पड़ता था। इससे कुछ बेहतर हाल बाथरूम के नल का था। वह कम ऊँचाई पर था लेकिन इसमें तभी तक पानी आता था जब तक नल नीचे न खुला हो और उसपर भी निहायत धीरे-धीरे पतली-सी धार गिरती थी।

ज़ीने के एस (S) के दूसरे मोड़ और रसोई-घर के बग़ल वाले दरवाज़े से गुज़र कर ज़ीना चढ़ने से तीसरी मंज़िल की छत मिलती थी। इसका आकार नीचे के बड़े कमरे जितना था। काफी खुली और कुशादा। साथ ही रसोई के ऊपर वाले हिस्से को एक कोठरी का भी आकार दे दिया गया था। छत के चारों ओर दो हाथ ऊँची मुंढेर थी, जहाँ खड़े होकर दूर-दूर तक देखा जा सकता था। एक ओर से भाँकने पर जुम्नन की गली और नाला दिखायी देता था, जो शाम होते ही गली के रहने वालों का आँगन बन जाती थी और उसमें उनकी चारपाइयाँ बिछ जाती थी।

ऊपर की तरफ़ देखने से मैडिकल-कालेज के गुम्बद और उसके पीछे दुर पर चित्तिज से मिली हुई बिजलीघर की चिमनी, जो सदैव धुआँ उगलती

रहती थी पर उसकी मात्रा में कमी-बेशी हुआ करती थी। कभी वह धुआँ विष की तरह काला और भारी और कभी ओस की तरह सफ़ेद और हलका लगने लगता था। कभी धुआँ इतनी तेज़ी से निकलता था कि उसपर काले बादलों का भ्रम होता था और कभी इतने धीरे कि आकाश पथ में सिर्फ़ एक पतली रेखा-सी खिंचती रह जाती थी। दूसरी ओर से सड़क दिखायी देती थी जो लाल कंकड़ों की बनी थी और खण्डहर का सामना भी पड़ता था। बायीं ओर फिर मकानों की कतार शुरू हो गयी थी।

ऊपर से देखने पर नीचे का खण्डहर एक विचित्र दृश्य उपस्थित करता था। ईंटों और मलबे का ढेर, जिस पर घास-फूस उग चले थे। तीन ओर की नंगी, प्रतिक्षण पतली होनी दीवारें, जो दार्शनिकों की भाँति निर्विकार भाव से खड़ी अपने समय की वाट देख रही थीं। गिरी दीवार के पाम एक बड़ा सा पीपल का पेड़ उग आया था, जिसने शायद मकान के गिरने में भी काफ़ी योग दिया होगा। रात में चाँद की रोशनी फैली होती थी, उस तरफ़ देखने से भय-सा लगने लगता था। रात की हवा से पीपल के पत्ते जागकर गड़गड़ाते उठते और उनपर सोये पक्षी अपने डैनों को फड़फड़ाते हुए चीख़ उठते थे। फिर जाने कहाँ से निकलकर चमगादड़ें ची-ची करती हुई उस खण्डहर में चक्कर काटने लगती थीं—और अकेले होने पर अधिक देर उसकी ओर देखते रहना असम्भव हो जाता था। ऐसा लगता कि अभी-अभी उन चौखट और बाजूहीन दरवाज़ों से कोई निकल पड़ेगा।

ऊपर की कोठरी को रवि का कमरा कहा जाता था। कोठरी में आमने-सामने दो खिड़कियाँ थीं, जिनसे सड़क के सामने के मकानों की खिड़कियों का सामना पड़ता था। अन्दर एक चारपाई पड़ी थी और था एक रैक, जिसमें

‘ट्रू रोमान्सेज़—ट्रू स्टोरीज़’ (True romances—True stories) के कुछ पुराने नम्बर और ‘माया सिरिज़’ की अठन्नी वाली किताबें पड़ी थीं। ताक पर एक शीशे की मुराही और गिलास था और थी एक कुर्सी।

इस कमरे की दीवार पर एक बीमार इसराज टँगा था। अक्सर संध्या को ऊब कर रवि उसके तार कसता और उन्हें झनझनाने की कोशिश करता, फिर अखकल होकर अलमारी से अपनी बाँसुरी निकालता और छत पर टहलते हुए उसे बजाने लगता। उसके इसराज झनझनाने की कोशिश से कुछ ऐसा संगीत का समौँ बँध जाता कि उसकी खिड़की के सामने पड़ने वाली खिड़की के अन्दर भी कुछ सरगर्मी आ जाती और दमे के मरीज़ की तरह का एक ग्रामोफोन सुरैया का प्लेबैक रेंकने लगता था—

नदी का किनारा हो

समौँ प्यारा-प्यारा हो.....

पर शायद स्प्रिंग ख़राब होने से उसका दम जल्दी उखड़ जाता, फिर चाबी भरी जाती और स्वर तेज़ हो जाता, जैसे कोई लगातार चाबी भर रहा हो। आवाज़ इस तरह निकलती—नदी S का SS कि SS ना SS रा होS..... और फिर सपाटे के साथ—समौँ प्यारा-प्यारा हो ! संगीत के इस आदान-प्रदान में कभी-कभी खिड़की पर गदराई सी गोरी चिट्ठी एक पहाड़ी लड़की का आकार भी दिख जाता और फिर रवि दुगनी प्रेरणा से बाँसुरी के छिद्रों में अपनी आत्मा उँडेल देने का प्रयास करने लग जाता।

फिर खण्डहर के पीपल पर चिड़ियों की चहचहाहट उबल पड़ती। आसमान कलहलाल हो उठता। बिजलीघर की चिमनी से सफ़ेद फुहार जैसा धुआँ निकलने लगता और धीरे-धीरे आकाश नीचे झुकता आता और सितारे टिमटिमा उठते थे। फिर बच्चों की किलबिल कोठे पर आ जाती थी।

आशा और बिनोद 'स्काली' को लिये ऊपर आ जाते। उससे तरह-तरह के खेल करते; किलकारियाँ मारते, कंकड़ उछालते और स्काली की नाक में पेंसिल ठूँसते; जोर से गुरा कर वह नाराजी ज़ाहिर करती पीछे हट जाती और फिर थोड़ी देर में उनके बुलाने पर आकर सामने लेट जाती।

स्काली देखने में सुन्दर थी। देशी और विदेशी रक्त के मिश्रण ने उसे एक अजीब-सा व्यक्तित्व प्रदान कर रखा था। चाकलेटी रंग, भबरे बाल और लटकते हुए रेशमी कान ! अनजान आदमी उसे देखकर शंकिन हों उठता था। पर एक बार उसे जान लेने पर फिर उससे डरने का कोई कारण न रह जाता था। किसी के ज़रा-सा सीटी बजाते या चुमकारते ही वह अपनी चारों टाँगें ऊपर करके उसके पैरों पर लोट जाती। उसकी काली आँखों में मूक याचना साफ़ देखी जा सकती थी। पता नहीं किसकी स्नेह-पिपासित आत्मा उसमें आ गयी थी जो उसे प्रत्येक के सामने इतना दीन कर देती थी।

रवि को हमेशा उससे कोफ़्त होती थी। ऊपर आते ही वह बच्चों को छोड़कर उसके कदमों पर लोटना चाहती थी। उसकी बाँसुरी चौंक कर खामोश हो जाती और एक ठोकर से वह उसका सत्कार कर देता था। व्यथित-सी स्काली एक लम्बी कूँ करके पीछे हट जाती थी और आशा उसे बुलाती हुई कहती, 'तल स्ताली—मामा जी बले खलाब हैं—बेताली को माल दिया।' और वह प्यार से उसे अपनी गोद में भरने का प्रयास करने लगती। फ़ॉक उठाकर उसका सर ढँक लेनी। बिनोद भी गम्भीर-सा चेहरा बनाकर मुँह से बिक-चिक् करने की असफल चेष्टा करता, फिर रवि की उँगली पकड़ कर सख्ती से पूछता, "क्यों मारा आपने उसे बेकार में?"

“तुम्हें भी पीटूँगा,” रवि अपनी तेज़ सुरीली आवाज़ में कहता और फिर से बीच में ठप्प हो गयी गत के स्वरों में ध्यान जमाने लगता ।

फिर बेबी को और अपनी कुछ किताबें लिये हुए माधुरी ऊपर आ जाती और तब ऊषा माँ को सहारा देकर लाती और उन्हें चारपाई पर बिठाकर नीचे रसोई का काम ख़त्म करने चली जाती । फिर डेढ़-दो घंटे छत पर वह गुलगपाड़ा और हुड़दंग मचता कि ख़ूदा की पनाह ! बीच-बीच में रोने-धोने, चीखने-चिल्लाने की आवाज़ें उभरतीं और डूबतीं । उनकी माँ अपनी चारपाई पर बैठे-बैठे उन्हें कोसती, दाँत पीसती । रवि बाँसुरी रख या नाँचे मेज़ पर जा बैठता या फिर सीढ़ियाँ उतर कर छात्र जी के कमरे का रास्ता लेता ।

ऊपर का हुड़दंग धीमा पड़ते ही रवि फिर ऊपर आ जाता और देर तक बाँसुरी बजाता रहता । दूसरे कोठे पर राघव बाबू आ जाते, उसकी गतों की प्रशंसा करते और कुछ देर गप-शप होती ।

जुम्मन की गली से अक्सर गाली-गलौज शुरू हो जाती, जिसका कारण अक्सर यह होता था कि किसी ने किसी दूसरे की जगह पर चारपाई डाल ली होती थी । अपनी-अपनी जगहों की रक्षा उसी चौकसी से करनी पड़ती थी जिस तरह सीमा प्रदेश की । मार-पीट की धमकियाँ, चुनी-चुनी गालियाँ और निष्क्रिय दहाड़े या फिर बग़ल का लोहार डंडा उठाकर अपनी बीवी को धुनने लगता था और उसकी चीखों और करुण आलापों से मुहल्ले की नींद हराम हो जाती थी ।

अक्सर खाने के समय कुनमुन आ जाता और एक टक उन्हें खाते देखता रहता । उसकी आँखें खाने पर लगी रहतीं और रवि अपनी थाली से कुछ निकालकर उसे दे देता । उसे ले वह फौरन चम्पत हो जाता और

उसे खोजती हुई गुड्डी आ पहुँचती । फिर अपना हिस्सा पा धीरे से सिर खुजाती हुई चल देती ।

धीरे-धीरे खामोशी सन्नाटे में बदल उठती । और भारी थकी साँसों में हजारों चिन्ताओं का बोझ लिये, लोग नींद की गोद में मुँह डालकर पड़ रहते ।

फिर सुबह बाल्टे में गिरती जल की एकरस-धार घर के व्यक्तियों की चेतना को कुरेद देती ।

जमादार मुँह लपेटे सड़कें खुरचता । चिम्मन नानखटाई-बिस्कुट की आवाज़ लगाता । रेल के इंजनों की तीखी सीटियाँ फिर कानों में घुसने लगतीं—सड़क पर इक्के-ताँगे खड़खड़ा उठते । और थकी ज़िन्दगियाँ असन्तोष की एक भावना लिये उठ बैठतीं ।

फिर सबेरा हो जाता था ।

पतले होते अँधियारे की ताज़गी भरी ख़ामोशी को बाल्टे में गिरती हुई नल की धार एकरस-स्वर से ताड़ रही थी। ऊषा ने अँगड़ाई ली और उठ बैठी। एक लम्बी साँस खींचकर उसने अपने चारों ओर दृष्टि डाली। फिर खड़ी हो गयी। उसने दूर-दूर तक फैली छतों पर निगाह दौड़ायी, जहाँ की ख़ामोशी धीरे-धीरे हलकी होती जा रही थी।

वह सीढ़ियों से नीचे उतर चली।

कमरे के मुरझाये-घुटे वातावरण में उसने कदम रखा। जहाँ की मेज़-कुर्सी, दीवार के पास लगा सन्दूकों का ढेर, चारपाई पर लदा सामान धीरे-धीरे आकार ग्रहण करते जा रहे थे। कमरे को पार करके वह रसोई-घर में पहुँची—पानी की आवाज़ और तेज़ हो गयी थी।

बाल्टे के भर जाने पर उसने नल में पाइप लगाया और बर्तनों को एक

तरफ़ करके रसोई में डाल दिया। पानी की एक पतली-सी धार राख और तरकारियों के छिलकों के बीच से होकर रेंग चली।

घर में चाय सिर्फ़ रवि के लिए बनती थी। वह चाय के बग़ैर रह ही नहीं सकता था। कभी-कभी सिन्हा साहब भी उसमें शामिल हो जाते थे, पर इसमें पहले उनकी अनुमति ले लेना आवश्यक होता था। उसने दुबारा कमरे में कदम रखा तो अंधेरे से निकल कर वहाँ का सारा सामान ठोस हो चुका था। उसने सीढ़ियों पर कदम रखा, रोशनी धीरे-धीरे फैलती जा रही थी।

माँ जाग चुकी थीं और चुपचाप मुस्त-सी अपने बिस्तरे पर बैठी थी। रवि के लम्बे-लम्बे बाल बिखर-बिखर कर उसकी पेशानी पर छा रहे थे। बिनोद अपने बिस्तरे से उलटकर आधा ज़मीन पर आ गया था। सिन्हा साहब जागकर उठने की तैयारी कर रहे थे। ऊषा ने एक बार उनके दुबले-पतले, नंगे, हड्डियोंदार शरीर को देखा। उनके चेहरे पर नज़र जाते ही सुबह की ताज़ी रोशनी में ऊषा को उनकी कनपटियों के पास सफ़ेद होती दो लटें दिख गयीं।

“आप चाय पियेंगे न बाबू जी?” ऊषा ने तरल स्वर में पूछा।

सिन्हा साहब जैसे चौंक-से पड़े। पर उसके स्वर से समझ में आ गया कि इनकार करना ठीक न होगा। अनमने स्वर में बोले, “हाँ-हाँ” फिर सहसा स्वर को लम्बा करते हुए बोले, “ऊषा देखो, मैं परसों जाने की सोच रहा हूँ। सामान बग़ैरह.....” उन्हें ऐसा लगा जैसे इतना कहना काफी है और वे रुक गये।

ऊषा नीचे उतर रही थी।

सिन्हा साहब ने फिर अपना हाथ सामने फैलाया और ग़ौर से उसकी रेखाओं को देखने लगे। हाँ, बिल्कुल साफ़ था कि पैंतीस-चालीस साल

की उम्र में वे कुछ दूसरा काम शुरू करेंगे। जिससे उन्हें यश और पैसा दोनों ही काफी मिलेंगे। 'पालमैन इन्स्टीच्यूट' ने भी इसी तरह की बातें लिखी थीं।

उनकी पत्नी अभी तक बिस्तरे पर अलसाई-सी जड़-भाव से बैठी थी। रवि करवटें बदल रहा था, बिनोद आधा उलट कर ज़मीन पर आ गया था और दिन की रोशनी धीरे-धीरे पीलेपन में बदलती जा रही थी।

सिन्हा साहब उठ खड़े हुए और मुँडेर के पास खड़े होकर आकाश पर नज़र दौड़ाने लगे। दूर पर बिजलीघर की लम्बी चिमनी से धुआँ निकल रहा था। मैडिकल कालेज के गुम्बदों पर सूर्य की सुनहरी किरणें फिसल रही थीं। आज यह सब काफी नया-सा लग रहा था जैसे यह सब आज वे पहली बार देख रहे हों।

लाल कंकड़ों की सड़क पर, दोनों बाहों पर फटा कुर्ता पहने, खोंचा सर पर रखे, चिम्मन अपनी एकरस आवाज़ लगा रहा था—'मीटे बिस्कुट-नानखटाई।' आधे मुँह को लपेटे जमादार नालियों को झाड़ू से खुरच रहा था।

सिन्हा का हड्डियोंदार चेहरा धुँधला-सा हो रहा था जैसे उनके चेहरे की रेखाएँ पिघलकर आपस में मिल रही हों। 'रिस्क'.....वे धीरे से बुदबुदाये और सहसा उन्हें महसूस होने लगा कि वह सब बड़ा आसान और स्वाभाविक है। मूढ़ की भाँति बैठी उनकी पत्नी, नाज़क रवि, बिनोद, आशा, उदास माधुरी और निर्विकार भाव से सबकी चिन्ता अपने ऊपर ओढ़ रखने वाली ऊषा ! उन्हें क्षण भर को आश्चर्य-सा होने लगा कि वह इस घर में कैसे आ गये हैं ? यहाँ के लोगों से उनका क्या सम्बन्ध है ? और सहसा उनके सामने अपने बड़े लड़के राधे का चेहरा नाच गया। लम्बा तंग माथा,

गालों की उभरी हड्डियाँ और छोटी आँखें—जिसकी भौहों के बल कभी मिटते ही न थे ।

बिना क्रोध के वे कभी उसकी याद न कर पाते थे—पाजी, नालायक ! जिसे अपने भविष्य, अपने माँ-बाप, भाई-बहनों की ज़रा भी चिन्ता नहीं है । जब वे उसे देखते तो उन्हें ऐसा लगता जैसे उसके चेहरे पर मूढ़ता का एक आवरण-सा चढ़ा है जिसके अन्दर कुछ भी देख सकना असम्भव है । और इससे उन्हें सदैव उसपर भुँकुलाहट आ जाती थी जो लाख दबाने पर भी उभर ही पड़ती थी । कुछ ऐसी बात थी कि वे और राधे कभी एक दूसरे की उपस्थिति में स्वाभाविक न रह पाते थे । अक्सर वे एक दूसरे की नज़रें बचाने की कोशिश किया करते थे ।

वह आवरणयुक्त सुस्त चेहरा !

पहली बार मैट्रिक का रिज़ल्ट निकला और वह फ़ेल हो गया ।

रात के दस बजे तक वह घर नहीं लौटा । उनकी पत्नी ने ज़िद करके उन्हें उसे खोजने पर भी राज़ी कर लिया था, पर उसी समय नीचे ज़ीने पर पदचाप सुनायी दी । सिन्हा साहब ने एक लम्बी साँस ली और उनका चेहरा तन गया ।

उनकी पत्नी ने मुसकाते हुए स्वर में कहा था, 'देखो इस वक़्त उसे कुछ कहना नहीं ।' मानो एक साथ बाथ-टब में ठंडे और गरम पानी के दो नल खोल दिये गये हों ।

और फिर वही आवरणयुक्त सुस्त चेहरा—बिखरे बाल, बल पड़ी भौहें ! वह उनके सामने से निकलकर अपने बिस्तरे पर जा लेटा—जैसे उसके लिए वहाँ कोई था ही नहीं ।

भुँझलाहट भरा एक निष्क्रिय क्रोध उनके हृदय में फुफकार उठा। दाँत भिच-से गये और मुट्टियाँ बँध गयीं पर अत्यधिक प्रयत्न से उन्होंने अपने को रोके रखा।

धीरे-धीरे फिर जिन्दगी का झगड़ा अपनी पुरानी रफ्तार से चल निकला। राधे जैसे घर में रहता हुआ भी घर का व्यक्ति न था। डॉट-डपट, दुलार-पुचकार किसी का भी उसपर कोई असर न हो पाता था। माँ के समझाने-बुझाने पर उसने दुबारा स्कूल जाना शुरू किया। एक लम्बे साल के बाद दुबारा रिज़ल्ट निकलने का दिन आया और राधे सुबह ही से नदारद ! दो दिन तक पता ही न चला। घर में माँ ने रो-रोकर ज़मीन-आसमान एक कर रखा था। सिन्हा साहब भी दौड़ते-दौड़ते आजिज़ आ गये थे। सभी मित्रों, रिस्तेदारों का घर खोज डाला लेकिन कुछ पता न चला। आखिर थकन और परेशानी की चरम सीमा पर यह भावना उभरी—‘जहन्नुम में जाय।’

और तीसरे दिन दफ़्तर से लौटने पर फिर उन्हें राधे के आवरणयुक्त मूढ़ चेहरे की झलक दिखायी दी। गालों की हड्डियाँ कुछ और उभर आयी थीं। पिता और पुत्र में बातें बड़े ही संक्षेप में हुआ करती थीं।

सिन्हा साहब बोले, “अब ?”

वह अपनी छोटी-छोटी आँखों में अपार मूढ़ता भरे उन्हें ताकता रहा। एक शब्द भी उसके मुँह से न फूटा।

“सरकार आपसे ही कह रहा हूँ, अब क्या इरादे हैं ?” सिन्हा साहब का चेहरा तमतमा उठा।

“कुछ नहीं,” उसने निरुत्साहित भाव से कहा।

“कुछ नहीं ! तो मैं तुम्हें ज़िन्दगी भर पढ़ाता रहूँगा, अर्र्यै.....और कोई थोड़े ही हैं । नालायक पाजी कहीं का ! घर की हालत नहीं देखता है।”

चुप ।

“क्या करोगे आखिर तुम ? तुम्हारी तबीयत नहीं लगती पढ़ने में, ठीक है; कितनी बार कहा कि कम-से-कम मैट्रिक कर लो तो चार पैसे के काम से लगा दूँ । तत्कालीन को रोओगे अपनी, मुझे क्या ।”

चुप । वे मूढ़ घृणित आँखें !

उन्हें लगा कि अगर वह इसी तरह उन्हें ताकता रहा तो वे या उसका सर फोड़ देंगे या अपना । वे वहाँ से टल गये । लोगों से कह-सुन कर किसी तरह उन्होंने उसे डाकखाने में सार्टर का ‘जाब’ दिलाने की कोशिश की । जब बात कुछ पक चुकी तो एक दिन शाम को उन्होंने उसे हुकुम सुनाया, “कल से तुम्हें काम पर जाना होगा । अभी तनख्वाह तो नहीं मिलेगी पर काम सीख जाने पर जल्द ही खपा लेंगे, ऐसा लोगों ने वायदा किया है ।”

दूसरे दिन राधे का कहीं पता न था ।

पर पता नहीं क्यों आज राधे की याद आने पर उनका क्रोध न उमड़ा । उन्हें कुछ ऐसा लग रहा था कि ये सभी—उसके परिवार के लोग—जो उसके गिर्द घेरा बाँधे खा-पी रहे हैं, जी रहे हैं—उन पर निर्भर हैं और उन्हें प्यार करने और उनकी परवाह करने का दिखावा कर रहे हैं । राधे को ऐसा करने की शायद आवश्यकता न थी । आज शायद वह उसे एक दूसरे ढंग से समझने का प्रयास कर रहे थे ।

उसी समय सीढ़ियों के ऊपर ऊषा का कोमल चेहरा उभरा । वह हाथों में दो कप लिये थी, उनके समीप आकर एक प्याला उसने रख

दिया, 'लीजिए बाबू जी' उसने साफ, मीठे और सजीव स्वर में कहा।

कप उठाते-उठाते सिन्हा साहब को ऐसा लगा जैसे वे अपने विचारों के लिए शर्मिन्दा हैं। दूसरा कप रवि के पास रखकर ऊपा उसे जगा रही थी, "मामा जी, उठिए, चाय पीजिए।"

यह काम खत्म करके उसने माधुरी की बाँह पकड़कर हिलाई, "उठो, स्कूल नहीं जाना है?"

सिन्हा साहब चाय का प्याला लिये हुए नीचे उतर रहे थे।

रवि आँखें बन्द किये ही चाय सिप कर रहा था।

माधुरी ने एक अँगड़ाई ली और फिर सहसा सजग होकर उठ बैठी, "अरे, हाँ जीजी!" लेकिन दूसरे ही क्षण उसकी जल्दबाजी सुस्ती में बदल गयी। रात में सिन्हा साहब के कहे वाक्य फिर उसके कानों में बज उठे, 'हाँ, इस वक्त स्कूल से उठाना ही पड़ेगा। रवि से पढ़नी रहे, मैट्रिक का इम्तहान प्राइवेट दे देगी। या फिर मेरे लौटने पर देखा जायगा।' दूसरे ही क्षण उसे स्कूल की अपनी कक्षाएँ याद आ गयीं। मंजू और शीला के क्रह-क्रह उसकी स्मृति में उभर उठे। ऐसा लगा जैसे उनके बीच में काले कोसों का अन्तर पड़ गया हो, अब वह उन्हें कभी न पा सकेगी। उसका दिमाग़ धुँधला-सा गया। उसने अपनी काली, जंगली आँखें उठायी—ऊपा को लगा जैसे शाम की काली घटा उसके चेहरे पर छहर उठी। फिर वह शहीदों के अन्दाज़ में बोली, "क्या होगा स्कूल जाकर?"

उसके घुटे स्वर और उसकी आँखों में कुछ अप्रत्याशित-सा देख ऊपा चौंक पड़ी, "क्यों?"

"मुझे स्कूल जाना बन्द करना होगा।" उसने शान्त, उदास स्वर में कहा।

"पर क्यों?"

“प्राइवेट मैट्रिक का इम्तहान दूँगी। मामा से पढ़ूँगी।” माधुरी ने जैसे भुँभुलाकर कहा।

“क्या तुम्हें भी.....” ऊषा के मुँह का वाक्य पूरा न हो सका। उसकी आँखें माधुरी की काली, जंगली आँखों की वीरानी में उलझ गयीं। अस्पष्ट धुँधली-सी कुछ छायाएँ उसके दिमाग की पतों में तैरती-सी निकल गयीं। उसके दोनों हाथ निर्जीव-से बगल में झूल गये। सहानुभूति और दया भरी एक दृष्टि उसने माधुरी पर डाली। प्राइवेट पढ़ाई के दलदल को वह खूब जान चुकी थी। मैट्रिक के बाद उसके लिए भी ऐसा ही सोचा गया था कि वह प्राइवेट ही इण्टर का इम्तहान दे देगी। एक-आध किताबें भी उसने माँगकर इकट्ठी कर रखी थी। लेकिन जल्द ही उसने जान लिया कि जो कहा जाता है, उसका वही मतलब हो, ऐसा कम होता है। विशेषकर लड़कियों की पढ़ाई के सम्बन्ध में। यह लड़कों की पढ़ाई की तरह इतनी ज़रूरी तो है नहीं कि दो-दो साल फ़ेल होने पर भी फिर स्कूल में नाम लिखाया जाय या स्कूल जाने के लिए उनकी खुशामदें की जायँ। ऐसी परिस्थितियों में, जब किसी को कोई रुचि न हो, हाथ-पैर मारना बेकार है और न मारना असम्भव! सहसा एक थकन-सी उसके शरीर पर छाती जान पड़ी जैसे अब वह कुछ न कह सकेगी। लेकिन जल्द ही उसने अपने को सँभाल लिया और स्नेहभरे स्वर में बोली, “अच्छा तू स्कूल जा! देखा जायगा।”

माधुरी का स्वर दृढ़ था, “आखिर मुझे स्कूल जाना बन्द तो करना ही होगा। फिर दो-चार दिन या एक-आध महीने तक जाती रही तो भी क्या फ़र्क पड़ेगा।”

ऊषा के हृदय में इस सत्य का आभास न हो ऐसी बात न थी। घर का ही खर्च कैसे चलेगा, यही क्या कहा जा सकता है। फिर आशा और बिनोद

और माधुरी, तीनों का स्कूल जाना चलना रहेगा, ऐसा कौन कह सकता है ? लेकिन माधुरी के मुँह से ये बातें सुन, वह ज़रा तीखे स्वर में बोली, “इसकी फ़िक्र का भार तू दूसरों पर रहने दे तो ठीक है। तू स्कूल जा, बाक़ी तेरा काम नहीं है।”

माधुरी के नथुने फूल रहे थे। ऊषा से अधिक वाद-विवाद करते वह बरती थी। लेकिन इस समय उसे ऐसा लग रहा था कि उसके साथ बड़-भारी अन्याय किया गया हो। और इसका रोष उसके अन्दर उफन-सा रहा था। घुन्नाकर बोली, “तुम बेकार में मुझे मजबूर करनी हो जीजी। जब कोई नहीं चाहता है कि मैं पढ़ूँ.....” उसकी आवाज़ बीच में घुट-सी गयी। ऐसा लगा जैसे कुछ कहे जाने पर अभी रो देगी। और वह ऊषा को ऊपर ही छोड़ सोढ़ियाँ उतरने लगी। ऊषा ने आज्ञात्मक स्वर में पुकारकर कहा “तू स्कूल जा। बेकार की बातें छोड़।”

“नहीं,” माधुरी ने जैसे अपने घुटे कण्ठ का सारा जोर एक शब्द में ख़त्म कर दिया। उसका स्वर धीमा था लेकिन ऐसी निश्चयात्मता की भूतनक उसमें थी जैसे उसने अंतिम बात कह दी हो।

‘उफ़ रे ज़िद’ ऊषा सोच रही थी। सिन्हा साहब ने निश्चय ही ख़र्च के ख़याल से कहा है। लेकिन अगर घर के सभी काम चलेंगे तो माधुरी की पढ़ाई चलाते रहने की कम-से-कम दोशिश तो की ही जा सकती है। लेकिन जो बात उसके दिमाग़ में जम गयी उसे दूर करना टेढ़ी-खीर है। अधिक लाड़ भी बच्चों का दिमाग़ ख़राब कर देता है। माँ-बाप के लिए सब समान ही होते हैं लेकिन अगर कई बच्चे हुए तो इसमें सन्देह नहीं कि किसी बच्चे का अत्यधिक सौन्दर्य कुछ विशेष पक्षपात का कारण हो उठता है। माधुरी सिन्हा साहब के बच्चों में सबसे अधिक सुन्दर थी और

माँ-बाप सदैव उसे इसका अहसास भी कराये रखते थे। बचपन से ही उसे अपने को कुछ विशेष समझने की आदत पड़ चली थी, और इस समय पढ़ाई रोकने का सवाल उसके सामने ऐसे आया जैसे उसके साथ संसार का सबसे बड़ा अन्याय किया जा रहा हो। इसमें सन्देह नहीं कि वह मेरी बात का खयाल रखती है लेकिन बात पिता जी ने कही है इसलिए माधुरी का रोष उन्हीं पर है। ऊषा को ऐसा लगा जैसे उसे स्कूल जाने पर राजी करने के लिए सिन्हा का दो-एक शब्द कहना आवश्यक है।

उसने छत पर दृष्टि डाली। विनोद उलट कर आधा ज़मीन पर आ गया था, उसके लाल-पतले ओठों के किनारों पर राल बह-बह कर सूख गयी थी जो धूप में मकड़ी के जाले की तरह चमक रही थी। आशा पेट के बल पड़ी थी और उसका एक हाथ नीचे दब गया था। उसके सर के उल्लंघन बालों ने उसके छोटे शरीर पर एक ऊँचा गुम्बद-सा बना रखा था। उन्हें जगाना और स्कूल के लिए तैयार करना था, पर ऊषा काफी थक चुकी थी।

धूप आधी छत पर फैल गयी। उसकी किरणें बदन में चिनगारियाँ-सी पैदा कर रही थीं। उसी समय बेबी ज़ोरों से घिघिया कर रो उठी। गृहणी ने अपनी अलसाई आँखें ज़रा-सी खोलीं और फिर बड़े इतमीनान से उसे पिल्ले की तरह उठाकर अपनी गोद में रखा और अपना आँचल खोल कर उसके मुँह में दूध ठूस दिया।

४

रवि दस बजे खाना खाकर इन्दियोरेंश आफिस चला गया, जहाँ वह क्लर्क था। ऊषा घर के काम-काज में व्यस्त थी। सिन्हा साहब खोये हुए कुत्ते की तरह घर के सभी कोनों का चक्कर लगा रहे थे। अभी से जैसे यह मकान उनके लिए अजनबी हो उठा था। ऐसा लगता था कि घर के सभी प्राणी उनसे बचना चाहते हों। उन्होंने आशा के साथ खेलना चाहा — वे सदैव अपने बच्चों के साथ मजे में खेल लेते थे—पर आज आशा को उनकी उलटी-सीधी बातों में विशेष मज़ा न आया और वह स्काली को साथ लेकर नीचे उतर गयी।

फिर वे भटकते हुए बड़े कमरे में आ गये। मेज़ पर सुस्त-सी बैठी माधुरी कोई उपन्यास पढ़ रही थी। सिन्हा को उससे बोलने का साहस न हुआ और वे उल्टे पैरों निकलकर सीढ़ियाँ चढ़ने लगे।

सूर्य पूरी तेज़ी से तप रहा था। छतें सुनसान पड़ी थीं— हाँ अलगनियों पर सूखने के लिए कुछ कपड़े पड़े हुए थे। एक क्षण चौधियाई दृष्टि से वे शतरंज के खानों की तरह फैली मकानों की छतों को देखते रहे फिर रवि के कमरे का दरवाज़ा खोलकर अन्दर घुसे। इतवार के दिन सिन्हा-साहब भी यहीं आराम करते थे। उन्होंने दरवाज़ा बन्द किया, चारपाई की दरी उलट दी और सुराही से गिलास भर कर चारपाई पर पानी के कुछ छींटे मारे और फिर दरी उलट कर लेट गये।

कमरे में भट्ठी-की-सी भभक निकल रही थी। तमाम खिड़कियाँ बन्द रहने पर भी जैसे सूरज की तमाम तपिश और रोशनी उस कोठरी में भर उठी थी। तकिये को मोड़कर उन्होंने सर ऊँचा किया और गर्मी की ओर से ध्यान हटाकर दूमेरे महत्वपूर्ण विषयों पर अपना ध्यान जमाने की कोशिश करने लगे।

अभी तक सिन्हा के मन में कभी-कभी एक चोर सर उठा देता था। आखिर यह क्या करने जा रहे हो? कहीं अपनी ही परछाहीं पर झपटने वाले कुत्ते की-सी हालत न हो। माना कि तुम्हारी ज़िन्दगी सन्तोषप्रद नहीं है। माना कि तुम्हें विश्वास है कि तुम संसार में सिर्फ़ क्लर्क करने के लिए ही नहीं पैदा हुए हो। माना कि इस जीवन में तुम्हें भविष्य अंधकारमय दिखायी देता है, पर हज़ारों आदमी क्या तुम से भी बुरी हालत में अपनी ज़िन्दगी नहीं बिता रहे हैं? और फिर ऐसे भी क्या किस्मत के सिकन्दर हो कि एम० डी० एच० (M. D. H.) का डिप्लोमा पाते ही तुम्हारे घर पर सोना बरसने लगेगा। पर यह ख़याल भविष्य के सुनहले स्वप्नों के सामने पिघल-पिघल जाता था। लोग कहते हैं—पहले योग्य बनो फिर इच्छा करो। अभी उनका अस्तित्व ही क्या है? सिर्फ़ मैट्रिक पास साधारण

व्यक्ति ही न ! इस पर एक अच्छी क्लर्क से अधिक क्या आशा की जा सकती है ?

दूसरी बात यह थी कि पैंतीस-चालीस के करीब पहुँचकर मनुष्य जीवन संग्राम से विरत होता है। इस विषय पर सोचते समय उनका हृदय एक असफल रोष से भर उठता था। इतना जीवन पार हो गया। इतने बच्चे, इतनी बड़ी घर-गृहस्थी उनके गिर्द जमा हो गयी। पर यथार्थ में जब से जीवन की यह तेज़ दौड़ शुरू हुई, उन्हें कभी अपने बारे में सोचने का मौक़ा ही न मिला। और अब अगर सोचने पर मजबूर भी हुए तो परिवार की आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर ही। दूसरों की समस्याओं का ख़याल करके ही ! असल में उन्हें ऐसा लगता था कि अभी तक जो कुछ भी उनके जीवन में हुआ उसमें उनकी सम्मति बिलकुल न थी। सिर्फ़ उनका भाग्य अपनी मनमानी कर रहा था।

वे क्लर्क नहीं होना चाहते थे, पर भाग्य ने उन्हें जीवन भर के लिए उसी से बाँधना चाहा। जीवन के विषय में उनके स्वप्न थे, विचार थे; लेकिन एक भी विचार तो कार्य-रूप में परिणित करने का उन्हें मौक़ा न मिला। यतीमी बचपन के बाद सिन्हा के अरमान बेलगाम हो गये थे। निश्चय ही अभाव, निराशा और घुटन में अपनी — गठिया की बीमार, कठोर और चिड़चिड़ी—बुआ के साये में उनका बचपन बीता था। इस दृष्टि से उन्हें आज के जीवन पर, अपने भाग्य पर संतोष होना चाहिए था। पर सिन्हा पर बचपन के तिक्त दिनों की स्मृति ने दूसरा ही असर डाला था। उन्हें दिवा-स्वप्न देखने की बुरी आदत पड़ गयी थी, ऐसे स्वप्न, जिनका सम्भावना से दूर का भी सम्बन्ध न था।

वे स्वभाव से ही आशावादी थे। और-तो-और उनका बचपन जिसकी

स्मृति उन्हें भी कठोर लगती थी, वह भी उन्हें कभी असहनीय नहीं लगा था। नियम ही बन गया था कि स्कूल के बाद उन्हें घर के कामों में अपनी बुद्धि की सहायता करनी पड़ती थी। बर्तन धुलवाने, चूल्हा जलाने, आलू छीलने तथा खाना परोसने का काम उनके सिपुर्द था। बाज़ार का काम—आटा, तरकारी और सभी तरह के सामान लाना भी उनके कर्तव्य में शामिल थे। इतने के बाद भी रात में अक्सर ऐसा होता कि उनकी बुद्धि पैर दबवाने की फुरमाइश कर देती थी और यदि वे ऊँघने के लक्षण दिखाते थे तो फौरन उनके सरेशाम नींद आने का इलाज भी कर देती थी। वह इलाज था—दो मोटे कलम के होल्डरों को उनकी उँगलियों के बीच फँसा कर दबाना और सिन्हा दर्द से दुहरे हो-हो जाते और नींद से उनका पिंड छूट जाता था। और इन सब कारणों से पढ़ने का समय न पा सकने के कारण स्कूल में भी उनकी कम गत न बनती थी।

उन दिनों की याद वह कम ही करते थे। फिर भी उन दिनों भी किसी ने उन्हें उदास कम ही देखा होगा। सबक-मुहल्ले के लड़के, आकाश के बादल और घर में आने-जाने वाली चिड़ियाँ—सभी उनके मनोरंजन के सामान थे। लेकिन सबसे अधिक आकर्षण की वस्तुएँ थीं—उनकी जादू की किताबें, जिनमें अदृश्य हो जाने और तरह-तरह के चमत्कार की तरकीबें लिखी रहती थीं। उन्होंने असली 'इन्द्रजाल', 'गोरखनाथ', 'बंगाले का जादू' नाम की छोटी-छोटी किताबें न जाने कहाँ से इकट्ठी कर ली थीं। यह एक राज़ था। उस समय उनका खयाल था कि बड़े होकर वे बहुत बड़े जादूगर बनेंगे और एक से बढ़कर एक चमत्कार दिखाते हुए वे देश भर में घूमा करेंगे। जब चाहेंगे हवा में शूँ से उड़ जायेंगे, देश-विदेश की चीज़ें उँगली के इशारे से मँगा लिया करेंगे। जो लोग उन्हें परेशान करेंगे उन्हें चूहा, बिल्ली या

कबूतर बना देंगे ।

कठोर वास्तविकताओं और जादू के स्वप्नों के बीच ज़िन्दगी आगे बढ़ती गयी । अन्त में उन्होंने जान लिया कि जादूगर बनकर अधिक-से-अधिक वे अंडे को पानी में नचा सकते हैं, एक रुमाल से बारह रुमाल बना सकते हैं, शीशा चबा सकते हैं, पर इससे अधिक कुछ नहीं । और तब उन्होंने जादूगर होने का ख़याल छोड़ दिया ।

उन दिनों वे दसवीं कक्षा में थे । उस समय मिस्टर ब्लैक सिरीज़ और गोपालराम गमहरी के उपन्यास उनके हाथों में पड़े । इन किताबों ने सिन्हा पर ऐसा जादू डाला कि वे दिन रात डाकुओं, चोरों और हत्यारों की कहानियों की रोसायटी में रहने लगे । उन दिनों उन्होंने निश्चय किया कि पढ़-लिख कर वे एक महान जासूस बनेंगे और देश को डाकुओं और हत्यारों से پاک कर देंगे ।

पर जल्द ही उनके ये स्वप्न भी बिखर उठे । उन्हें मालूम हुआ कि असली जासूसों का अस्तित्व सिर्फ़ किताबों तक ही है । देश में इस तरह का सिर्फ़ सी० आई० डी० विभाग है जो पुलिस के अन्तर्गत है और उसमें घुस सकने योग्य उनका शरीर नहीं है ।

ज़िन्दगी की नब्ज़ तेज़ होती गयी । धीरे-धीरे एक उद्देश्य की ओर तैरने वाले तैराक ने देखा कि वह एक भँवर में फँस गया है जो उसे गोल-गोल चक्कर दे रहा है । कुछ देर उन्होंने हाथ-पैर मारे, फिर अपने को भँवर की इच्छा पर छोड़ दिया ।

तक़दीर ने उनकी नकेल पकड़ ली । वे क्लर्क बने और क्लर्क के रूप में सफल रहे । जो व्यक्ति इतना निरीह, सहनशील तथा हर स्थिति में प्रसन्न रहने वाला हो, वह इस काम के लिए विशेष योग्य होता है । फिर उन्होंने

शादी की और उसमें भी सफल रहे। दूके-बाद-दीगरे आज वे छै बच्चों के बाप थे। यह सब अपनी स्वाभाविक गति से होता रहा।

सिन्हा के सदैव दो जीवन चलते रहते थे। एक यथार्थ और दूसरा काल्पनिक। दूसरा जीवन विशेष रूप से अनुभवों से पूर्ण था। विवाहित जीवन में अभाव और जिम्मेदारी ने उन्हें धक्के देने शुरू किये, तब से उनके स्वप्न रुपये और यश दोनों को साथ-साथ समेट कर चलने लगे।

सबसे पहले उन्होंने व्यापार सोचा और 'बिना पूँजी का व्यापार' के क्रिस्म की किताबें खरीदने लगे। किताबों से पढ़कर उन्होंने कई तरह के साबुन सेन्ट, बटन, सफ़री चाय की टिकियाँ इत्यादि बनाने के प्रयोग शुरू किये। उनका विश्वास था कि उनसे वे कुछ समय के बाद थपेट धन कमा सकेंगे। उन दिनों उनके दो सन्तान थीं—राधे और ऊषा। उनको लेकर भी सिन्हा के स्वप्न थे। वे सोचते थे कि जब उनका व्यापार चमक जायगा, वे राधे को उच्च-व्यापार की शिक्षा लेने के लिए विदेश भेजेंगे और ऊषा को प्रसिद्ध संगीतज्ञ बनायेंगे। धीरे-धीरे इस बिना पूँजी के व्यापार से उनका विश्वास हटने लगा और एक-एक करके उनकी बिना पूँजी के व्यापार की किताबें, पता नहीं कहाँ गुम होती गयीं।

जैसे-जैसे राधे बड़ा होता गया, उन्हें उससे भी निराशा होती गयी। उनकी तमाम कर्मशीलता और उत्साह का शतांश भी उसके हिस्से में न पड़ा था। जब भारत की तरह वह सभी चीजों से उदासीन और कूड़मगज़ निकला। अपने परिवार के भविष्य में उनकी चिन्ता बढ़ती गयी।

उसी समय उन्हें पामिस्ट्री (हस्तरिखा) का शौक पैदा हुआ। सिन्हा का सदैव का स्वभाव था कि चलना सीखने से पहले हाँ दौड़ने की कल्पना में खो जाते थे। दो एक किताबें पढ़ीं और उन्होंने सोचना शुरू किया कि जब

यूरोपियन तक इस विद्या में विश्वास करते हैं—चीरो लाखों कमा चुका है, तो क्या वजह है कि भारतवर्ष में, जो ऐसी विद्याओं का केन्द्र है, वे इस विद्या से अपनी आमदनी नहीं बढ़ा सकते !

और उन्होंने निश्चय कर लिया कि इस बार उन्होंने अपना काम पा लिया है। घर के बजट से काट-कपट कर उन्होंने कुछ किताबें खरीदीं, 'साइंटिफिक पामिस्ट' के विज्ञापन अखबारों में दिये और अपने नाम के पैड छपवा लिये। एक रबर का पैड, एक रोलर, इम्प्रेशन इंक, एक मैगनीफाइंग गिलास भी उन्होंने जुटा लिये और अपनी डाक का इन्तज़ार करने लगे।

इसमें उनका नाम तो ज़रूर लोग जान गये, पर धन-प्राप्ति न होनी थी, न हुई। अधिकतर उन्हें हाथ दिखाने वाले उनके जान-पहचान के मित्र, रिश्तेदार, आफिस के लोग या अस्थिर-बुद्धि वाले कुछ विद्यार्थी हुआ करते थे, जो उनपर एहसान करके, उन्हें हाथ दिखा लिया करते थे।

धीरे-धीरे रोलर से आशा खेलने लगी। पैड को दोमक खा गयी और किताबें अलमारी में ताले में बन्द हो गयीं क्योंकि कीमती थीं। और सिन्हा किसी दूसरी लाइन में चमकने की सोचने लगे। बच्चों को बीमारियाँ लगी ही रहती थीं। उन्होंने लखनऊ के एक प्रसिद्ध होम्योपैथिक की कहानी सुनी थी, जो पहले आफिस में क्लर्क थे पर आज वे एक प्रसिद्ध डाक्टर हो गये थे और उनके पास एक कार भी थी।

धीरे-धीरे होम्योपैथी उनके दिमाग पर सवार होने लगी। उन्होंने उसके सिद्धान्त पढ़े और उसके भक्त हो गये। उन दिनों अपने परिचित मित्रों को प्रायः वह इसके सिद्धान्तों से अवगत कराने की चेष्टा करते रहते थे। कहते, रोगों से लड़ने की शक्ति हमारे शरीर में ही वर्तमान है। जब वह शक्ति कमज़ोर पड़ जाती है तो रोग हावी हो जाता है। होम्योपैथी की दवा का एक

कतरा रोग को और उभाड़ देता है, दुगुना कर देता है। मुसीबत बड़ी समझ कर, हमारे अन्दर की रोग-निवारक-शक्ति जी-जान से उससे लड़ने पर जुट जाती है। लेकिन दवा का असर हटते ही रोग का अस्वाभाविक वेग भी घट जाता है, फिर रोग-निवारक-शक्ति रोग को पीट देती है। इस चिकित्सा को तो आत्मिक चिकित्सा कहना चाहिए।

कुछ थोड़ी सी दवाएँ भी उन्होंने खरीदीं। और अपने घर के बाल-बच्चों का इलाज स्वयं ही करने लगे।

बच्चों की बीमारियाँ भी मीठी गोलियों के लालच में बढ़ गयीं। और सिन्हा भी नयी-नयी बीमारियों की तलाश में व्यस्त हो गये। कभी कोई बच्चा खाना न खाता तो फौरन सिन्हा उससे पूछ-ताँछ शुरू करते और सिम्प्टम पर सिम्प्टम (लक्षण) मिलाते हुए निश्चित करते कि उसे मन्दाग्नि की शुरुआत है, फौरन ही उसे मीठी गोलियाँ मिल जातीं। किसी को छींक आयी, उनके कान चौकन्ने हुए, खाँसी की आवाज़ सुनी ब्रांकाइटिस के सिम्प्टम दिमाग में चक्कर लगा उठे।

पड़ोस के लोग भी विशेषरूप से ज़क़ाम में उनकी दवा लेने के आदी हो गये थे और सिन्हा में डाक्टरियत पैदा हो चली। सचमुच जीवन में अब तक उन्हें पता न चला कि उनका असली काम क्या था—वे सिर्फ़ 'डाक्टर बनने के लिए ही पैदा हुए थे।

उन्हें बचपन की घटनाएँ याद आ गयीं। जब पहली बार वे अपनी बुआ के लिए दवा लेने डाक्टर की दुकान में गये थे और वहाँ की बड़ी स्पष्ट छाप उनके चित्त पर पड़ी थी। डाक्टर की दुकान में अलमारियों में रखी लेबिलदार, हर साइज़ और शक्ल की शीशियाँ—मेज़ पर लगा स्टैंडिंग कलैण्डर, थर्मामीटर, स्ट्रिट में भीगती इन्जेक्शन की सुइयाँ, स्ट्रिट की महक,

स्टेथिस्कोप—सभी उनके ध्यान को रमा लेते थे। हाँ, ज़रूर बचपन से ही उनकी रुचि इसी ओर रही होगी।

उन्होंने अपना हाथ देखा। साफ़ मेडिकल हाथ था। बुध के स्थान के नीचे रेखाएँ और पैंतीस-चालीस के करीब उनकी भाग्य-रेखा भी मस्तिष्क पर आकर रुक जाती थी। फिर सूर्य रेखा का उदय ! साफ़ था कि इस अवस्था में अपना कैरियर बदलेंगे। जाँच के लिए उन्होंने अपने हाथ की छाप 'पालमैन इन्स्टीट्यूट' को भेजी थी और वहाँ से भी इसी किस्म की बातें लिखकर आयी थीं।

सिन्हा ने निश्चय कर लिया कि वे डाक्टर ज़रूर बनेंगे। पर जब उन्होंने लोगों के सामने यह विचार रखा कि वे कलकत्ते जाकर बाक्तायदा एम० डी० एच० (M. D. II.) का डिप्लोमा लेना चाहते हैं तो लोगों ने उनकी इस सनक का विरोध किया। घर में भी और बाहर भी; दोस्तों, रिश्तेदारों और आफ़िस के लोगों ने भी। आखिर खर्च कहाँ से आयेगा और फिर परिवार का साल भर पोषण कैसे होगा ? इन सब समस्याओं ने उन्हें दुविधा में अवश्य डाल दिया था।

पर कमज़ोर इच्छाशक्ति वाले व्यक्तियों की तरह सिन्हा की भी यह विशेषता थी कि जब चारों ओर से उनका विरोध होने लगता तो वे भी अपनी बात पर अड़ जाते थे। अगर इतना विरोध न होता तो शायद इस इच्छा को कार्य-रूप में परिणत होने की अधिक सम्भावना न थी। लेकिन इस चौतरफ़ा विरोध ने उन्हें दृढ़ कर दिया। उन्होंने कलकत्ते के प्रसिद्ध होम्योपैथिक कालेज से लिखा-पढ़ी करके सब ठीक कर लिया कि वे एक साल के लिए वहाँ आ रहे हैं।

फिर भी इच्छाशक्ति मात्र से परिवार के पोषण और अपने एक साल

के खर्चों के लिए पैसा जमा कर दिखाना असम्भव नहीं तो दुस्साध्य अवश्य था। लेकिन उन्होंने हिम्मत न हारी। सेविंग बैंक की छोटी-सी रकम निकाल, कुछ मित्रों से कर्ज ले और अपनी पालिसी गिरवी रखकर किसी तरह उन्होंने पाँच सौ रुपये इकट्ठे कर लिये। इनमें दो सौ रुपये वे घर में छोड़ रहे थे और तीन सौ अपने साथ ले जा रहे थे। उन्हें आशा थी कि वहाँ वे पार्ट-टाइम टाइपिस्ट या ट्राफिस्ट का काम निकाल लेंगे और दस महीने मज में कट जायेंगे। रहा घर, सो ऊषा के लिए उन्होंने मुहल्ले के 'महिला शिल्प भवन' में पैंतीस रुपये मासिक पर शिक्षिका का कार्य भी ठीक करवा लिया था। वैसे तो शिल्प-भवन में शिल्प की शिक्षा की विशेषता थी ही, लेकिन साथ-ही-साथ और विषय भी पढ़ाये जाते थे। बिल्कुल भारतीय आदर्श पर, सर्वांग-पूर्ण ऐसी शिक्षा का प्रबन्ध था जिसके बाद भारतीय स्त्री को और कुछ भी जानने की ज़रूरत न रहती थी। जो चाहते थे, उन लोगों की लड़कियों को प्रवेशिका, विद्याविनोदनी तथा सम्मेलन की परीक्षाओं के लिए तैयार भी किया जाता था। ऊषा को अगले महीने की पहली से काम पर जाना था। और फिर राबि है ही। दो साल उसे नौकर हुए हो गये, तब से वह बराबर घर में रहा है। क्या वह कुछ भी सहायता न करेगा? यह सोचना भी व्यर्थ था। पड़ोस के लोग—विशेषरूप से राघवबाबू और घर के निचले हिस्से के किरायेदार—वह लेखक चान्न, जी—बड़े अच्छे लोग हैं, देख-भाल करते रहेंगे। चिन्ता की क्या बात है? और सिर्फ दस महीने की ही बात है। दिन जाते कितनी देर लगती है।

सिन्हा को सारी समस्या एक सरल रेखा के समान लग रही थी।

“पड़ा रहने दे । जब भूख लगेगी अपने आप खा लेगा । नदीदा कहीं का ।” गृहणी ने कड़क कर कहा ।

ऊपा धीरे-धीरे समझा रही थी, “अगर उसने तुम्हारे कुछ आत्मा ले लिये तो क्या हुआ, तुम्हारी छोटी-सी बहन नहीं है ?”

“बड़ी बहन बनकर आयी है ।” बिनोद ने तिनक कर कहा, “मैं सूखी रोटियाँ नहीं खाऊँगा ।” मन-ही-मन वह तैयार हो गया था कि थोड़ी-सी और खुशामद करवा कर खा लूँगा ।

‘सूखी रोटियाँ नहीं खाऊँगा’ इस वाक्य ने फिर गृहणी को भड़का दिया । तीखे स्वरों में बोली, “कह दिया ऊपा, छोड़ दे उसे, बड़ा नवाबज़ादा बनकर आया है ! सूखी रोटियाँ नहीं खाऊँगा ! सूरत चुड़ैलों की, मिज़ाज परियों का । जितना ही खाते हैं, उतना ही लल्लाते हैं ।”

“हाँ, हाँ जाओ, तुम सब खाओ।” बिनोद ने शहीद बनने की ठानी,
 “मर जाऊँगा और क्या होगा।”

अगर वे उठकर उस तक पहुँच सकतीं तो निश्चय ही बिनोद के गालों पर एक तमाचा पड़ा होता। पर अपने कमज़ोर पैरों के कारण दाँत पीसकर रह गयी।

ऊषा अब भी धीरे-धीरे उसे मना रही थी। बिनोद भी पिघल चुका था। पेट में चूहे कूद रहे थे। अधिक मान करने की स्थिति में न था। इसलिए उसने भी ऊषा की बात मान लेने का निश्चय किया। ऊषा भी जानती थी कि न्याय बिनोद के पक्ष में है। सवेरे के बचे आलुओं में से रवि के लिए निकाल देने पर प्रत्येक के लिए मुश्किल से तीन-चार आलू बचे थे। और उसमें से एक-दो आलुओं का निकल जाना काफी गम्भीर बात थी। आशा अपनी तोतली बोली में बोली, “भैया तो थयेंगे नहीं, मैं उनके आलू ले लूँ।”

“चुप कलमुँही नहीं तो.....,” ऊषा ने उसे एक मीठी डाँट सुनायी और कहती गयी, “चल बिनोद, राजा बेठा जल्दी कर। कल तुम्हें बहुत से आलू मँगा दूँगी। और इसे कुछ न दूँगी।”

बिनोद लोटना छोड़कर उठ बैठा और खाने लगा।

आकाश पर भूरे-भूरे बादलों ने दल बाँध रखा था। जगह-जगह नीले आकाश के टुकड़े और दो-एक सितारे दृष्टिगत हो जाते थे। ऊषा को ऐसा जग रहा था जैसे आकाश एक पुराना नीला सा लिहाफ़ है, जिसमें से भूरी रई फट-फट कर चारों तरफ़ निकल पड़ी थी। गर्मी अब भी थी लेकिन उसमें आर्द्रता आ चली थी। गृहणी पंखे की डंडी से अपनी पीठ खुरचा

रही थीं। सहसा वे चौंक पड़ीं और बोलीं, “ऊषा आज सेठ का आदमी आया था।”

“क्या कहता था?” ऊषा ने आकाश पर दृष्टि जमाये शंकित स्वर में पूछा।

“यह पाँचवा महीना जा रहा है—कहता था कि उन्होंने कहा है, नोटिस देकर मकान खाली करा लेंगे।” उन्होंने अलस भाव से कहा।

दूर पर शर्टिंग करता हुआ एक इंजन जोरों से चीख उठा।

“होने तो अड़तालिस चाहिए—चार महीने के। न हो तो छत्तीस—तीन महीने का तो चुका ही देना चाहिए।” ऊषा ने सोचते हुए कहा। फिर सहसा कुछ याद आ जाने पर बोली, “मामा से कहा?”

“अभी तो नहीं,” उन्होंने उत्तर दिया, “जा, उसे खाने के लिए बुला ला, नीचे छात्र जी के यहाँ है।” उन्होंने विनोद से कहा।

“मैं चली जाती हूँ,” माधुरी अपनी किताब छोड़ कर उठ खड़ी हुई, “कहीं अँधेरे में लुढ़क पड़े तो और भी आफ़त हो।”

और वह नीचे चल दी।

ऊषा उसकी किताब उलटकर देखने लगी। छात्र जी का एक कहानी संग्रह था—‘दिल के बीचों-बीच।’

विनोद और आशा में फिर सुलह हो गयी और दोनों स्काली को चुपके से अपने बीच में सुला लेने की तरकीबें सोच रहे थे और एक दूसरे से फुसफुसा कर बातें कर रहे थे।

“चुप,” विनोद ने आशा के मुँह पर हाथ रखकर कहा और वे दोनों भेद-भरी दृष्टि से एक-दूसरे को देखकर मुस्कराने लगे।

अन्यमनस्क भाव से ऊषा किताब देखने लगी। किताब के प्रलेख पर

लेखक ने दावा किया था कि कहानी एक बड़ा ही मुश्किल आर्ट है। हिन्दी के सारे कहानीकार अभी तक घास खोदते रहे हैं और फिर एक-एक लेखक पर उड़ती आलोचना थी। प्रेमचन्द सुधारवादी हैं, जैनेन्द्र को भाषा नहीं लिखनी आती और वे दार्शनिक हैं। सुदर्शन प्रेमचन्द की नकल करते हैं। बशपाल प्रचारक है। अशक ने पंजाब के मध्यवर्ग तक अपने को सीमित कर रखा है। हाँ अज्ञेय में ज़रूर कुछ दम था, वे विदेशी साहित्य को समझते हैं लेकिन उनका रहन-सहन बड़ा विलासपूर्ण है, जिसमें कला की साधना सम्भव नहीं है। लेखक ने दावा किया था कि चाहे लोगों को पसन्द आये या न आये पर उन्होंने शुद्ध कहानी-कला के कुछ प्रयोग किये हैं। 'उनकी कापी' की तरह इम्प्रेडिनिश्टिक (प्रभाववादी) कहानी अभी तक हिन्दी में एक नहीं लिखी गयी। हाँ, अमेरिका में इस तरह की उच्चकोटि की कहानियाँ कुछ लेखक लिख सकते हैं, जिनमें एक ज़रा-सी भावना या घटना पर कलापूर्ण-पठनीय-कहानी बना दी जा सकती है।

विद्वान लेखक ने एक ही भूमिका में कहानी के सारे महारथियों को धूल चटा दी थी। ऊप्रा उत्सुकतावश वह विशिष्ट कहानी 'उनकी कापी' ढूँढ़कर पढ़ने लगी।

कहानी बड़ी भावुकतापूर्ण शैली में थी। एक युवक (जो शायद लेखक स्वयं होगा) छत पर टहलते हुए प्रायः रोज़ एक लड़की को देखता है। भावों का ज्वार उसके हृदय में उठता है लेकिन वह देखने मात्र से संतुष्ट है। एक दिन लड़की नहीं दिखायी देती, युवक को चार सौ वोल्ट का-सा एक धक्का लगता है और वह दौड़कर उस मकान में जाता है। दरवाज़े पर 'ख़ाली है' (To let) की तख़्ती उसे घूर रही है। अन्दर घुसता है और तलाशी लेने पर उसे अलमारी के निचले खाने में एक कापी मिलती है,

जिसे लेकर वह लौट आता है। कहानी का अंतिम पैरा यों था—

“जब हृदय की वेदना असह्य हो उठती है तो वह रेशमी कपड़े में लपेट कर रखी कापी खोलकर पढ़ने लगता है और उसमें अपने हृदय की वेदना डुबोने का प्रयास करता है—

पेटी कोट २

ब्लाउज़ २

साड़ी (सादी) ४

ऊषा का जी मचला उठा। सपाटे में कहानी पढ़ उसने किताब पटक दी। यही वह कहानी थी जिसका जोड़ हिन्दी में नहीं था।

ऊषा ने लालटेन उठायी और थके भाव से रसोई की ओर चल दी। शाम को भी अक्सर वह रसोईघर चली जाती थी। यद्यपि दिन भर शिल्प-भवन का कठोर काम करने के बाद उसमें अधिक शक्ति न रह जाती थी कि विशेष कुछ कर सके। रोटियाँ रखी थीं। रवि ने भी यह कह दिया था कि अगर चाय बन जायगी तो वह खा लेगा।

ऊषा ने नल खोल दिया और चूल्हा सुलगाने लगी।

गीली लकड़ियों का भारी घुटन भरा धुआँ रसोई में भर उठा। ऊषा का दम घुटने लगा। जब आग कुछ जल उठी तो उसने केटिल में पानी भरकर चढ़ा दिया और पास ही बैठकर फूँकनी से उसे फूँकने लगी। बिनोद का स्वर उसके पास आगिरा, “बड़ी जीजी, माधुरी जीजी को पुकारो, मामा नहीं आये अभी।”

ऊषा ने अपनी पुकार नीचे फेंक दी, “माधुरी क्या करने लगी, जल्दी चल, मामा जी को भी लेती आ।”

“आयीSSजीजी,” माधुरी का स्वर नीचे से उछला ।

ऊषा ने फूँकनी बगल में रख दी और रोटियों को कटोरदान से निकाल तसले में रखने लगी । लालटेन की रोशनी में बाल्टे की देव की तरह की परछायी ऊषा की तरफ़ की दीवार पर पड़ रही थी और ऐसा लग रहा था कि जैसे एक विशाल दैत्य ने अपनी छाया उस पर डाल दी है । उसका अंग-प्रत्यंग शिथिल होता जा रहा है, उस छाया की परिधि से बाहर आना उसके लिए असम्भव है ! धीरे-धीरे उसकी जीवन-शक्ति कमजोर पड़ रही है, निचुड़ी जा रही है ।

केटिल का ढकना भाप के झटकों से हलके-हलके हिलने लगा था और ओस की तरह की सफ़ेद भाप उसकी टाँटी से उभरने लगी थी । ऊषा ने केटिल में चाय की पत्तियाँ डालीं और उसे उतार लिया । फिर चिमटे से बीन-बीन कर कोयले बाहर निकाले, उनपर पानी छिड़का । रोटियों के तसले में ही ऊपर तरकारी की कटोरी रख ली, एक हाथ में उसे उठाया और दूसरे में केटिल उठा ली और सीढ़ियाँ चढ़ने लगी । फिर सहसा दो सीढ़ियाँ उतरकर लौटी और केटिल वाले हाथ में लालटेन भी लटकाने की कोशिश की । केटिल के टेढ़े हो जाने से थोड़ा सा पानी उसके पैरों पर गिर पड़ा । एक ‘सी.....’ करके उसने हाथ की वस्तुएँ ज़मीन पर रख दीं और धोती के छोर से पैर मलने लगी । सारा पैर भजा रहा था । इसकी चिन्ता न कर उसने पूर्ववत् लालटेन के साथ सभी चीज़ें उठा लीं और सीढ़ियों पर चढ़ने लगी ।

बिनोद और आशा सो चुके थे । उनके बीच में स्काली थी । गृहणी थपक-थपक कर बेबी को सुलाने की कोशिश कर रही थी । अभी तक रवि

नहीं आया था। माधुरी भी नीचे ही थी।

“माधुरी भी जाकर वहीं मर रही,” गृहणी ने ऊषा को देखने ही कहा,
“ज़रा आवाज़ तो दे।”

“माधुरी SS,” ऊषा ने रवि के कमरे की खिड़की से आवाज़ लगायी।

“आयी जीजी,” माधुरी ने धीरे से उत्तर दिया। उसकी आवाज़ घुटों
सी लग रही थी। दो मिनट बाद माधुरी ऊपर आ गयी।

“तू भी वहीं जाकर बैठ गयी, आये नहीं मामा?”

“आ रहे हैं।” माधुरी ने धीरे से उत्तर दिया।

ऊषा ने ध्यान में उसकी ओर देखा। उसकी आँखें नम-सी थीं और
नाक की कोंर लाल-सी हो रही थी। उसके हाँठ रह-रह कर फड़क रहे थे।
उसका तमनमाया चेहरा देखकर ऊषा चकित-सी रह गयी।

“क्या हुआ रे तुम्हें?” उसने पूछा।

एक लम्बी साँस लेकर माधुरी बोली, “कुछ नहीं, चाचा जी मामा जी
को अपनी एक कहानी सुना रहे थे। मैं भी सुनने लगी। उफ़ कितनी कष्ट
कहानी थी। उर्मिल के जीवन की ट्रेजेडी सुनकर आँसू रोकना मुश्किल हो
जाता है। तुम्हें सुनाऊँ जीजी?”

“रहने दे अपनी कहानी,” ऊषा बोली, साथ ही उसे ‘उनकी कापी’
याद हो आयी और बोली, “ज़रा-सा ख़याल नहीं तुम्हें कि कुछ हाथ ही
बटा ले। छे घण्टे शिल्प-भवन की लड़कियों में सर खपाऊँ और फिर चूल्हे
में भी भुलसूँ।”

माधुरी ने कोई उत्तर न दिया। उसकी जंगली काली आँखों में एक
स्वप्निल धुँध-सी छायी हुई थी और उसकी बड़ी-बड़ी बरौनियों की छायाओं
ने उसकी आँखों को छिपा-सा रखा था।

आसमान के बादल छितर-से उठे थे। अब वे किसी पहाड़ी श्रेणी की याद दिलाते थे जो धीरे-धीरे नीले समुद्र से उभर रही हो। बीच-बीच में जुगनुओं का तरह सितारे टिमटिमा रहे थे।

जूने पर हलकी-हलकी सीटियों की आवाज़ सुनायी दी। रवि आ रहा था, “अरे सब लोग सो गये!” अपनी मुरीली आवाज़ को और नरम करके उसने पूछा, “माधुरी वहाँ थी, याद भी न दिलाया कि इतनी देर हो गयी।”

ऊषा ने केटिल और चाय का प्याला उसके सामने रख दिया, फिर कटोरी और रोटियों का तसला आगे बढ़ाया।

प्याले में चाय ढाल, हाथ में दो रोटियाँ उठा, वह खाने लगा। तभी खाट पर से गूहणी बोली, “आज मियाँ का आदमी आया था, नोटिस देने को कहता था।”

लुक्कमा रवि के गले में फंसे लगा, जिसे उमने चाय के घूँट से नीचे उतारा और फिर धीरे से बोला, “पहले आपने कहा ही नहीं। तीस रुपये मैंने एक मित्र को उधार दे दिये हैं। बड़ी ज़रूरत थी उन्हें। अब तो अगले महीने का इन्तज़ार करना होगा।” फिर कुछ सोचकर बोला, “तुम्हें तो रुपये मिलेंगे न ऊषा?”

ऊषा के रुपये पड़ली के स्थान पर पन्द्रह को मिलते थे, जिस दिन लड़कियों से फीस वसूली जाती थी।

ऊषा ने कोई उत्तर न दिया। उम्रे पैंतीस रुपये ज़रूर मिलेंगे पर वह उन्हें किराये में दे दे तो महीने का और सब खर्च कहाँ से चलेगा! माना कि राशन मामा ने खुरीदा है पर उससे भी क्या होता है! आशा, बिनोद की फीस, लकड़ी, तरकारियाँ, दूध, शक्कर, तेल, धोबी.....जो कई बार छोड़ने की धमकी दे चुका है। बुआ की दवाई खत्म हो चुकी है। रुपये

जिस तरह गिनकर मिलते हैं उस तरह खर्च तो गिनकर नहीं होते ।

रवि ने चाय की प्याली परे सरका दी और उठ पड़ा । फिर ज़मा-याचना के-स लहजे में बोला, “लात्र जी माने नहीं । आज ‘साँजुर ऐंड क्लॉपेट्रा’ फ़िल्म का अन्तिम दिन है । ऊँचा मुझे उनके साथ जाना होगा । रसोई के बग़ल वाला दरवाज़ा खुला रहने देना । मैं आकर बन्द कर दूँगा, जागने की ज़रूरत नहीं है ।”

और नीचे कमरे में जा, बाल सँतार गुनगुनाता हुआ वह नीचे उतर गया ।

इसके बाद ऊँचा और माधुरी के गाने की बारी थी । गृहणी पहले ही दलिया खा चुकी थी । चाय के एक-एक घूंट के सहारे उन्होंने रोटियाँ गले से नीचे उतारी और फिर ऊँचा बिस्तरा बिछा कर उसपर जा लेटी । माधुरी भी अपने बिस्तर पर जा लेटी और लैम्प की लौ ज़रा तेज़ करके ‘दिल के बीचों-बीच’ पढ़ने लगी ।

गृहणी बेची को अपने आंचल में लिये सो चुकी थी । ऊँचा ने ज़रा तीखेपन से कहा, “क्या बेकार किताबें पढ़ा करती है । कुछ मतलब की चीज़ें पढ़ तो बात भी है । इस तरह बेकार फूँकने के लिए तेल नहीं है ।”

माधुरी ने एक लम्बी साँस ली और अनिच्छा पूर्वक किताब बन्द करके पेट के बल लेट गयी और तकिये में कग कर भुँह गड़ा लिया । अपनी सखी-सहेलियों—बीना, मंजू और शीला के संसर्ग से ज़बरदस्ती काट दिये जाने से जो शून्य उसके हृदय में उत्पन्न हो गया था, आज उसमें कुछ धूमिल, अनोखी रेखाएँ उभर रही थीं, जिन्हे वह न पहचानती थी ।

अंधकार ने सिन्हा साह्य की छत पर अपने पंख फैला दिये । नीचे गली में जुम्मान के गले में खाँसी के फन्दे फँसते और उलझते जा रहे थे । ऊँचा

के नेत्र बन्द थे लेकिन वह सोच रही थी—

और विद्याओं के साथ अर्थशास्त्र ने भी यथेष्ट उन्नति कर ली है लेकिन एक नगण्य आमदनी में सात व्यक्तियों के परिवार का खर्च कैसे चलाया जा सकता है—इसका हल अभी तक पेश नहीं किया गया ।

इस समस्या को हल करने का भार आ पड़ा था ऊषा के सर ।

इतवार का दिन था ।

भरी जवानी में ही बरसात के जीवन का रस निचुड़-सा गया था । काले-काले बादल आकाश में भूले पथिकों की तरह भटकते और फिर जैसे अचानक रास्ता पाकर अपनी राह लग जाते ।

रवि छात्र जी के कमरे में डटा हुआ था । सड़क की ओर खुलने वाले जंगलेदार दो दरवाज़े बन्द थे, बीच का—आधी दूर तक सीकचा वाला—दरवाज़ा खुला था । ज़मीन पर चटाई और उस पर दरी बिछी थी । उसी पर छात्र जी जाँघिया पहने, नंगे शरीर बैठे थे और एक कोने में अदब से बैठा था रवि । पीछे की दीवार पर छात्र जी का स्लेटी रंग का पैरों तक पहुँचने वाला (टैगौर टाइप) कुर्ता खूँटी पर लटक रहा था ।

उनका चेहरा थका और अलसाया-सा लगता था । शेव कर चुके थे पर

लगता था कि बालों की खूंटियाँ कल के लिए छोड़ दी गयी हैं। अपनी कनपटियों पर साफ़ होते बालों पर कभी-कभी वे हाथ फेर लेते थे या बालों को उँगलियों में लपेटने लगते थे। दाहिने हाथ में सिगरेट दबी थी, राख दियासलाई की खाली डिब्बियाँ में भराइते जा रहे थे। इस समय वे अपने खास अन्दाज़ में बातें कर रहे थे, जिसमें कुछ शब्द सुनायी देते थे और कुछ सिगरेट के धुएँ के साथ गुल जाते थे। वे रवि को शिक्षाएँ दे रहे थे, “मोपॉसाँ पढ़ो। कहानी कला के लिए वह सर्वश्रेष्ठ है। विशेषकर स्त्रियों का मनोवैज्ञानिक चित्रण करने में तो वह संसार में बेजोड़ है।”

“जी हाँ,” रवि ने नम्रता से कहा, “उसकी कहानी ‘डायमंड-नैकलेस’ ही लीजिए, मैं समझता हूँ कि स्त्री-हृदय के मूल रूप की झलक उसमें है।”

“हाँ,” छात्र जी आगे बढ़ते गये, “उसमें भी बढ़कर है ‘यूज़लेस व्यूटी’ (निःफल सौन्दर्य) उफ़—गड़बड़ कर दिया है उसने ! हिन्दी वाले तो उसकी थूल तक नहीं पा सकते ! और फिर सोचो यह कलाकार सिर्फ़ बत्तीस साल की उम्र में संसार छोड़ गया। स्त्री-हृदय का कितना व्यापक ज्ञान उसे था।”

“जी हाँ, ‘डायमंड नैकलेस’ में तो.....”

इस तरह यह साहित्यिक चर्चा जारी थी। रवि के जीवन का प्रथम उत्थान था इसलिए सभी कलाएँ उसे चुम्बक की भाँति खींच रही थीं। इन सारी कलाओं की ढारियों के छोर पर पतंग की भाँति एक कोमलांगी तरुणी का मुखड़ा ज़रूर बँधा रहता था। संगीत, अभिनय, गीत, साहित्य सभी उसे लुभाते थे। छपे हुए शब्दों का जादू उसकी आत्मा पर अपना असर डाल चुका था। छात्र जी के सम्पर्क में आकर उसे ऐसा लगा जैसे उसने अपनी मंज़िल की पहली सीढ़ी पार कर ली है। यद्यपि इस शिष्यता का कभी-कभी

उसके पर्स पर बहुत बुरा असर पड़ता था, लेकिन ऐसी छोटी बातों पर वह कभी ध्यान न देता था— जैसे किताबों की दूकान पर दस-पाँच रुपये की किताबों का बंडल बँधवा चुकने पर छात्र जी को महसा याद आता कि उनका पर्स तो घर पर ही रह गया है, तो रवि उनकी सम्मान रक्षा के लिए फ़ौरन अपने पर्स का मुह खोल देता। छात्र जी अंगरेज़ी पिक्चर देखने के बहुत शौक्तीन थे। उनका कहना था कि चाहे समझो या न समझो पर अंगरेज़ी पिक्चर ज़रूर देखा करो। कभी-कभी कुछ दृश्यों को न समझने पर भी बहुमूल्य प्रेरणा मिल जाती है। और वे अपनी कहानियों के उदाहरण बताते जिनकी प्रेरणा उन्हें अंगरेज़ी फ़िल्मों से मिली थी। रवि को अच्छी-बुरी पिक्चरों की क्या तमीज़ थी इसलिए छात्र जी उसे देखने योग्य पिक्चर से सूचित किया करते थे। छात्र जी उसके साथ जाते थे, यह कितना बड़ा गौरव था ! भीड़-भाड़ में वे टिकट लेने जायें, वह भी अच्छा न लगता था। नतीजा यह कि हर शो में तीन रुपये तक की चोट रवि पर पड़ती थी। फिर ऐसी बातों के आंतरिकत आघातग्रस्तता होने पर वे एक मुस्त बीस-पच्चीस रुपये माँग लेने में भी न हिचकते थे। रवि उन्हें दे देता और फिर उस ही याद दिलाकर उनसे वसूल करना उसे बड़ा हीन काम लगता था। तयलीफ़ में रहते थे बेचारे, वरना उन्हें स्वयं ही याद होगा ! इसके एवज़ में छात्र जी ने उसे अधिकार दे रखा था कि किसी पत्रिका को कहानियाँ भेजते समय वह यह लिख सकता है कि उसे छात्र जी ने सुधारा है। कभी-कभी वे उसकी कहानियाँ छपा भी देते थे। उनकी सलाह पर वह मोपॉसाँ का पूरा साहित्य (Full works) उठा तो लाया था पर पढ़ न सका। अनोखे नाम, रीति-रिवाज के जंगल में उलझकर कहानी का कथानक पा लेना उसे टेढ़ी खीर लगता था। मोपॉसाँ की जिन कहानियों का

वह हिन्दी अनुवाद पढ़ चुका था, उसे वह किसी तरह पढ़ गया था। 'डायमंड नैकलेस' भी उन्हीं कहानियों में से एक थी।

रवि ने एक बड़े अहम विषय पर उनकी राय जाननी चाहा थी कि आज कल नये कहानीकार प्रेम पर कम लिखते हैं और गरीबी पर ज़्यादा, क्या यह ठीक है ?

छात्र जी ने बड़े जोश से इसकी व्याख्या की थी, “कलाकार को ऐसी सामयिक विचाधाराओं या नारेबाज़ियों के चक्कर में नहीं पड़ना चाहिए। सब बरसाती मेंढक की तरह गुम हो जायेंगे, देख लेना। मैंने तो कोलम्बिया युनिवर्सिटी से कहानी लेखन-केला की डाक-शिक्षा (Story-writing by correspondence course) ली है।”

उनका मुख्य नियम यही था कि ऐसी चीज़ों के बारे में लिखो जो स्थिर रहे। मानव स्वभाव की मूल प्रवृत्तियों पर निमित्त साहित्य ही अमर होता है। और प्रेम मानव के जीवन में सब से महत्वपूर्ण है। वही स्थिर रह सकता है। इसकी सबसे बड़ी पहचान यही है कि जिनकी बात तुमने चलायी (प्रगतिवादी) उनके तमाम बड़े लेखकों को देखो, क्या बिना प्रेम के वर्णन के उनकी कोई कृति है ?—नहीं ! क्या इससे प्रेम की अनिवार्यता नहीं प्रकट होती ? चाहे कहानी हो या उपन्यास, नाटक या कविता, सिर्फ़ प्रेम ही उसमें जान डाल सकता है। इस बात को गाँठ बाँध लो।

इसी समय उनकी साहित्यिक चर्चा में बाधा पड़ गयी। उनकी पत्नी कुनमुन का हाथ पकड़े आयी और निरीह स्वर में बोली, “आज इतवार है, ज़रा दिखा लाओ न इसे डाक्टर के यहाँ। दो महीने से कान बह रहा है, डर लगता है।”

छात्र जी उनकी बात अनसुनी कर कहते रहे, “बड़े अच्छे वाक्य में

उसने लिखा था जो रटने योग्य है—

‘If it is money which makes the mare go round
then certainly it is love which makes a book circulate
round.’

उनकी श्रीमती जी अब कुछ ज़ोर से बोली, “मुना नहीं ?”

ज्ञात्र जी ने इतमीनान से सिगरेट के बेकार टुकड़े को दियासलाई में
ठूँसा और मुँह पर कास्टर-आयल पीने का-सा भाव लाकर बोले, “चली
क्यों नहीं जाती तुम्हीं, आखिर यह सब मेरे काम है ? सोचा था आज
नक्खास जाऊँगा। माथुर जी ने कितने दिनों में कहानी माँगी है, लिख ही
नहीं सका।”

“मुना तुमने रवि ?” वे उसे गवाह बनाने की चेष्टा करती हुई बोलीं,
“ये इनके काम नहीं हैं, मेरे हैं।”

रवि धर्म-संकट में पड़ रहा था, किसकी-सी कहे। निपटारा-सा करता
हुआ बोला, “चलिए भाभी जी, मैं चला चलूँगा।”

“हाँ, हाँ,” ज्ञात्र जी प्रसन्न हो उठे, “अच्छा है तुम चले जाओ।
और हाँ, उस दिन जो प्लाट तुम्हें दिया था, उसपर कहानी लिख चुके या
नहीं ?”

“जी पूरी हो गयी है। कल दिखाऊँगा।” रवि ने कहा, उधर ज्ञात्र जी
की श्रीमती जी तैयारी में व्यस्त हो गयीं। रवि कहने लगा, “पर ज्ञात्र जी,
प्लाट पर लिखने में मुझे बड़ी कठिनाई हुई।”

“स्वाभाविक ही है।” ज्ञात्र जी दूसरी सिगरेट सुलगाते हुए बोले,
“तुम लिख ले गये, मैं तो कभी किसी दूसरे के प्लाट पर लिख ही नहीं
सकता। यथार्थ में कहानी का आधार जब तक अपने किसी अनुभव को न

बनाया जाय उसमें जान डालना बड़ा मुश्किल है ।”

आश्चर्य से रवि की आँखें विस्फारित हो गयीं, “तो आपकी सारी प्रेम कहानियाँ.....”

छात्र जी के चेहरे पर एक रहस्यात्मक सन्नाटा छा गया। धीरे-धीरे प्रत्येक शब्द पर जोर देते हुए बोले, “यह तो मैं नहीं कह सकता। लेकिन प्रेरणा रही ज़रूर है, कहीं-न-कहीं जीवन में। संसार में तो ऐसे साहित्यकार मिलेंगे जो इस विषय में वदनाम है, जैसे बायरन का कहना था—‘I have tasted every woman of London except my mother and queen’ मोपॉसाँ जो स्त्रियों के मनोविज्ञान को इस सफलता से चित्रित कर सका है क्या सम्भते हो उसका जीवन बायरन (Byron) से कम पूर्ण रहा होगा ? भारत के ही साहित्यकारों में प्रसिद्ध औपन्यासिक शरत् बाबू के जीवन को ही देखो। यह तो अपनी-अपनी पहुँच की बात है।”

“तो आपका मतलब यह है कि किना प्रेम के विविध अनुभवों के...” रवि का दिमाग इस आवश्यकता का अनुभव करके धुँधला रहा था।

“मैं तुम्हें निराश नहीं करना चाहता,” छात्र जी ने उसे बढ़ावा दिया, “लेकिन फिर भी यदि हमारा भावात्मक जीवन विविधतापूर्ण नहीं है तो हमारे लिए अच्छा कलाकार बन सकना टेढ़ी-खीर ज़रूर होगा। कलाकार के जीवन को साधारण नैतिक मानदण्डों से नापना भूल होगी—आस्कर वाइल्ड की बात उस दिन तुम्हें बतायी ही है; उसे सज़ा दे, क्या संसार ने कम खोया ?”

रवि अपने सफल कलाकार हो सकने की सम्भावना पर विचार करने लगा। भावात्मक जीवन को पूर्ण बनाना ही होगा, बात उसके हृदय में खुबती सी जान पड़ी।

छात्र जी ने फिर चुप्पी साध ली थी। ऐसा लगता था जैसे कछुए ने ज़रा देर सर निकाल कर फिर अपने खोल में समेट लिया हो।

उसी गमय सलज्ज भाव से माधुरी ने कमरे में प्रवेश किया। उसके हाथों में एक किताब थी। उसकी लम्बी बरानियाँ आँखों पर भुकी हुई थीं, “भाई साहब, यह किताब वापस ले लीजिए, और कोई दूसरी दे दीजिए।”

“पढ़ ली आपने? बड़ी जल्दी!” छात्र जी कुछ अचकचाकर बोले।

“आपका आधा साहित्य तो चाट डाला होगा इसने,” रवि बोला।

रवि की बात अनगुनी करते हुए छात्र जी बोले, “कैसी लगी आपको? कुछ बन पड़ी हैं कहानियाँ या यों ही।”

माधुरी पर जैसे धम-संकट-सा आन पड़ा हो। इतना बड़ा लेखक गम्भीरता से अपनी कहानियों पर उसकी राय चाहता है, उसी माधुरी की जिसकी बात इतनी बड़ी हो जाने पर भी हसी में उड़ा दी जाती थी। उसकी साँसें कुछ तेज़ हो गयीं, पर मुँह से कोई शब्द न निकला।

“बताती क्यों नहीं?” रवि बोला।

ऐसा सम्बोधन माधुरी को इस समय बहुत खल गया और प्रतिकार के जोश में कह चली, “जी बहुत अच्छी, आप कैसे लोगों के हृदय की बात इतनी आसानी से जान लेते हैं? मुझे ‘चूड़ियाँ’ कहानी बहुत पसन्द आयी। पढ़ कर आँसू रोकना मुश्किल हो गया।”

छात्र जी ने सर ऊपर उठाया। फिर खड़े हो गये और अलमारी खोल, भुककर उसमें की किताबों को हाथ लगाया, दो एक बाहर भी खींचीं, लेकिन फिर रख दीं, फिर बोले, “किस लेखक की दूँ?”

“किसी की भी,” माधुरी बोल गयी, लेकिन दूसरे ही क्षण उसने संशोधन

किया, “अपनी ही कोई किताब दीजिए ।”

ज्ञात्र जी ने अपना एक उपन्यास निकाल कर उसे दे दिया और बोले, “पर आगे से तभी मिलेंगी जब आप सच-सच बतायेंगी कि इसमें क्या-क्या कमियाँ हैं ?”

माधुरी किताब ले, कमरे से बाहर निकली और सीढ़ियाँ चढ़ने लगी । उसने किताब के मुख पृष्ठ पर दृष्टि डाली । वीणा लिये एक नवयुवक बैठा है और छाया-चित्र में एक युवती थिरक रही है—नाम था ‘प्यासा’ । अभी तक उसकी साँसें तेज़ थीं और हृदय में जैसे कुछ उफन पड़ने के लिए तैयार लगता था । घर में कोई उसकी बात तक सुनने को तैयार नहीं लेकिन इतना बड़ा लेखक उससे अपनी कृतियों पर राय चाहता है ! ऊषा ने जब उसे देखा तो उसकी आँखों की हलकी-सी चमक और गरिमा की झलक ने उसे अपनी ओर आकर्षित कर लिया ।

“फिर किताब ?” उसने पूछा, “आखिर तुझे इस्तहान देना है या नहीं ?...”

“जीजी पढ़ती तो हूँ,” लापरवाही से कह वह बड़े कमरे की ओर चल दी । आज छुट्टी थी इसलिए ऊषा ने निश्चय किया था कि वह सर धोयेगी । सीढ़ियों पर उतरते हुए उसने माधुरी से कहा, “चल, तू चूल्हा सुलगा, तब तक मैं नहा लूँ ।”

‘कौन ?’ सीढ़ियों पर पैरों की आहट सुन टाट के पीछे से ऊषा ने पूछा ।

“मैं हूँ,” रवि बोला, “ज़रा मैं बाहर जा रहा हूँ । ज्ञात्र जी ने कहा है कि कुनमुन को ज़रा डाक्टर को दिखाना है ।”

“हूँ,” ऊषा ने कहा । रवि खटखट करता ऊपर चढ़ गया ।

ऊपर कमरे से गूहणी की आवाज़ आ रही थी, “रवि, ज़रा कभी-कभी

माधुरी की पढ़ाई भी देख लिया करो न ।”

“अभी बहुत दिन हैं । मैट्रिक भी कोई इम्तहान है ! पास होना तो बच्चों का खेल है ।” इस समय वह भूल गया था कि उसने मैट्रिक का इम्तहान कम्पार्टमेण्टल में पास किया था । वह नीचे उतर गया ।

ऊपर कमरे में गृहणी ने स्कूल-सा लगा रखा था । माधुरी बैठी उपन्यास पढ़ रही थी । गृहणी के कहने पर उसने विनोद को रुपये-आने-पाई के जोड़ के कुछ प्रश्न लिख दिये थे । विनोद सर भुकाये हुए स्लेट पर उन्हें निकालने की कोशिश कर रहा था पर उसका ध्यान बराबर खुली खिड़की से दिखने वाली सड़क पर जा उलझता था । सवालों के विषय में उसका मत बिल्कुल साफ़ था—ये बेकार वाहिदात में छोटे बच्चों को परेशान करने के लिए बनाये गये हैं । सैकड़ों रुपये-आने-पाई जोड़कर रख देने से भी क्या फ़ायदा, जब उसकी जेब में चाकलेट ख़रीदन के लिए एक पैसा भी न हो ! आशा को गृहणी ने अपने पास बिठा रखा था और उसका सबक सुन रही थी—

हठ मत कर

लाल कलम ला

उसी समय छात्र जी की आवाज़ नीचे से उभरी, “विनोद अपना ख़त ले जाओ ।”

सहसा विनोद अपनी सिलेट फेंक कर उठ खड़ा हुआ और चिल्लाया, “बाबू जी की चिट्ठी होगी ।” वह नीचे भागना ही चाहता था कि माधुरी ने उसे टोक दिया, “ठहर, सीधे से सवाल कर । मैं लाती हूँ । दौड़ पड़ा बेतहाशा, कहीं लुढ़क पड़ेगा तो बाक्की दाँत भी टूट जायेंगे ।”

विनोद ठिठक गया और फिर बेमन-सा बैठकर उसने सिलेट उठा ली । दाँतों

की चर्चा पर वह सचमुच कुंठित हो उठता था। उसके आगे के दो दाँत ऐसे गिरे थे कि पता नहीं क्यों निकलने का नाम ही न लेना चाहते थे।

माधुरी जब नीचे पहुँची तो छात्र जी अपना विशेष कुर्ता पहन, बाल सँवार नक्खास जाने के लिए साइकिल निकाल रहे थे। लिफाफा उनके हाथ में था। उन्होंने आगे बढ़ाया, “लीजिए।”

माधुरी ने ख़त पकड़ा लेकिन हाथ ज़रा हिल गया और लिफाफा चक्कर खाता हुआ नीचे गिर पड़ा। माधुरी उसे पकड़ने को झुकी। छात्र जी भी उसकी सहायता के लिए झुके और उठते समय माधुरी का सर उनके कंधों से टकरा गया। “ओह,” छात्र जी के मुँह से निकल, फिर पृष्ठ संभ्रा हो कहने लगे, “शायद कल का है। साइकिल के नीचे दब गया था इसीलिए नहीं दिखा।”

माधुरी का चेहरा ईशुर की तरह लाल हो उठा था। उनकी बात पूरी मुने बिना वह ऊपर भागी। बाथरूम के सामने पहुँचने से पहले ही ऊषा की आवाज़ सुनायी दी, “क्या है?”

“चिट्ठी,” माधुरी ने उत्तर दिया।

“किसकी?” टाट के पीछे से आवाज़ आयी।

“देखती हूँ,” माधुरी ने लिफाफा नोचते हुए कहा।

“पढ़कर सुना,” ऊषा बोली।

“बाबू जी की है, लिखा है—

प्रिय ऊषा,

तुम्हारा पत्र मिला। इधर बड़ी परेशानियों में उलझा था, अतः उत्तर न दे सका। अगले महीने रवि से कहकर जिस तरह भी हो कम-से-कम तीन महीने का किराया अवश्य दे देना। इधर एक हफ़्ते से मुझे बुख़ार आ रहा था। कालेज

नहीं अटेण्ड करता था। काम अभी तक कुछ नहीं लगा है। माधुरी की पढ़ाई कैसी चल रही है? तुम्हारी नौकरी का क्या हाल है? बिनोद, किरण और बेनी को प्यार। तुम्हारी बुआ की तबीयत कैसी है? अगर कोई विशेष ज़रूरत पड़े तो राघव-बाबू से कहकर डाक्टर शर्मा को बुलाकर दिखवा देना।

हाँ, कहना तो न चाहिए, पर कहना पड़ना है कि मेरा भी काम चलता नहीं दिखता है। अगर हो सके तो रवि से कहकर कुछ रुपये भिजवा देना। बताना कि यह सब उधार है, एक-एक पैसा चुका दिया जायगा।

तुम्हारा पिता

सिन्हा”

माधुरी चिढ़ी ले ऊपर चली गयी। ऊपा ने एक लम्बी साँस ली और अपने बाल धोने लगी।

गृहणी ने जो चिढ़ी सुनी तो जल उठीं “अंधेर कर दी है उन्होंने भी! सीधे-सीधे सब चल रहा था लेकिन नहीं, डाक्टरों पढ़ेंगे! बाल-बन्चे पेट पर पत्थर बाँध कर रहें! ऐसे ही ज़िन्दगी बवाल हो रही है। अगर सेठ ने नोटिस दे दिया तो सर का साया भी उठ जायगा, ऊपर मे यहाँ से रुपये की माँग! आखिर यहाँ रुपये फलने तो नहीं हैं न!”

बिनोद ने जो माँ को व्यस्त देखा तो सवाल छोड़कर सिलेट की छेद में एक डोरी डाल उसे नचाने लगा। अभी यह खेल शुरू ही हुआ था कि गृहणी की दृष्टि उसपर पड़ गयी, “हरामज़ादा कहीं का!” वह उबल पड़ी। मूँफ़लाइट ने क्रोध का रास्ता पा लिया। तड़ से उसके हाथ पर जो चाँटा पड़ा तो सिलेट झनझनाती हुई दूर जा पड़ी और चार टुकड़ों में बिखर

गयी—एक टुकड़ा चाँखटे में फँसा रह गया। वे बकती-भकती रहीं लेकिन बिनोद उनकी पहुँच से परे निकल चुका था। निष्फल क्रोध से दाँत पीसती हुई वे माधुरी से बोलीं, “ला तो उसे पकड़ कर ज़रा !”

“जाने दो बुआ,” माधुरी ने बिनोद का पत्त लिया। वह जानती थी कि ऐसे अवसरों पर उनका क्रोध भयानक होता है, जो क्रूरता की सीमा तक पहुँच जाता है। बेबी की पैदाइश के बाद जय से उनकी टाँगों ने जवाब दे दिया है, तब से जब वे क्रोध में किसी बच्चे को पा जाती हैं तो फिर उसे पीटना शुरू करने पर रुकना जानती ही नहीं हैं।

“सभी एक-एक से बढ़कर ज़हर के पुतले हैं !” उनका निष्फल क्रोध कार्य का सहयोग न पाकर जुझान से ही फुफकारें मार रहा था।

नहा कर ऊषा जब कमरे में लौटी तो कमरे का वातावरण क्षुब्ध और घुटा-घुटा सा लग रहा था। उसने सफ़ेद साड़ी पहन रखी थी और खुले-गीले बाल जटा के आकार में लिपटे हुए थे। बालों को खोल उसने कंधे पर फैलाते हुए कहा, “बुआ जी, बाबू जी ने रुपये माँगे हैं। बड़ी मुश्किल है।”

“तो ?” उनके क्रोध को एक नया मार्ग मिला, “मेरी हड्डियाँ काट-काट कर भेज दो ! हुंडी रख गये हैं न मेरे पास ! लिख दो, नहीं जा सकते हैं रुपये-उपये।”

“पर रुपये भेजे बिना तो नहीं चलेगा बुआ,” वह बालों की एक लट को झटक कर उसमें से पानी झाड़ती हुई बोली।

“नहीं चलेगा तो भेजो, जहाँ से हो। मालिक-मुख्तार तो तुम्हें बना गये हैं न !”

ऊषा की भौहों के मध्य में एक हलकी-सी शिकन पड़ गयी। लेकिन शांत स्वर में बोली, “बहस से क्या फायदा ? जब बाबू जी ने मँगाये हैं तो जो हो सकेगा जायँगे ही। न होगा तो मैं अपनी तनख्वाह ही भेज दूँगी।”

अब गृहणी ज़रा नम्र पड़ीं। ऊषा को वे जानती थीं। सहम कर बोलीं, “क्या तू समझती है मुझे तेरे बाबू जी से कोई दुश्मनी है ? पर सोच देख, आखिर किसी तरह मकान का तीन महीने का किराया तो देना ही पड़ेगा। फिर सारा खर्च, रवि का रुख भी अजीब-सा है। बच्चों का पेट पालना ही मुश्किल है। कहाँ से जायँगे रुपये ?”

इन बातों की सत्यता ऊषा कम जानती हो, ऐसी बात न थी। पर किया क्या जाय ? शांत भाव से बोली, “ठीक है बुआ पर सोचो तो, यहाँ तो चार आदमी हमारी जान पहचान के हैं। मामा हैं—अच्छा लगे या बुरा—कुछ करेंगे ही। पर वहाँ परदेस में बाबू जी का कौन बैठा है ? आखिर दो साल तक मामा जी को बाबू जी ने रखा, कभी तो एक पैसा नहीं माँगा। और अब जो लेंगे वह डूबेगा नहीं, इसे समझा देना मामा को।”

ऊषा को कमरे में आता देख माधुरी चुपचाप रसोई की ओर खिसक गयी थी। इस समय वह चूल्हे में मुँह से फूँ-फूँ कर रही थी। उसके गले की हलकी हरी नसें उभर-सी आयी थीं। मुँह तमतमा-सा रहा था। उसे देखकर ऊषा ने कोमल स्वर में कहा, “चल हट, मैं जलाती हूँ। तू तब तक दाल-चावल धोकर तरकारी काट दे।” फिर सहसा याद आ जाने पर बोली, “पर तरकारी होगी ही कहाँ ? जा अलमारी में से दो आने पैसे देकर बिनोद से आलू मँगा ले, जल्दी कर। शाम को मुझे अभ्युत्था के साथ चन्दे के लिए जाना है। खाना हो जाय तो थोड़ा आराम कर लूँ।”

माधुरी वैसे ही सर झुकाये बोली, “रहने दो जीजी, मैं बना लूँगी, तुम तरकारी के लिए भेज दो।”

ऊषा क उसकी हर बात नयी-सी लगी। इस ओर माधुरी की रुचि उसने कम ही देखी थी। फिर सोचा—शायद उसे कोई बात लग गयी है। बराबर ही तो कहा करती हूँ। ज़रा आज्ञा के स्वर में बोली “नहीं, तेरे बनाने से एक तो शाम तक खाना मिलेगा और वह भी जला-जलाया।”

अनिच्छापूर्वक माधुरी उठ खड़ी हुई। ऊषा चूल्हे की लकड़ियों को उलट-पलटकर उन्हें फिर से जमाने लगी।

हाथ में भोला लटका, जेब में दुअत्री डाल मियाँ बिनोद इस शान और गम्भीरता से जुम्मन की दूकान से आलू लाने चले जैसे कोलम्बस नयी-दुनिया का पता लगाने क्या चला होगा। पहले तो खयाल हुआ कि बाबू जी की तरह घड़ी भी ले ली जाय लेकिन यह सम्भव न था, इसलिए इस कमी को महसूस करते जा रहे थे।

सड़क पार की और टूटे मकान के बगल वाले रास्ते से दूसरी गली में चले। कुछ देर खड़े होकर दूर दीवार की घासों के बीच दौड़ती गिलहरियों का मुआयना करते रहे, फिर सहसा एक बन्दर की शकल दिख जाने के कारण क्रोधम बड़ा दिये।

सीढ़ियों से नीचे उतरे तो मंगली मिला। उसे भी साथ लिया और फिर प्रत्येक दूकान पर अड़ते और प्रत्येक कुत्ते पर पत्थर सन्धान करते, बमुश्किल तमाम जुम्मन की दूकान पर पहुँचे। जुम्मन था नहीं। नसीबन शान से दूकान पर बैठी थी। बिनोद को देखकर मुस्करा कर बोली, “कहो भैया ?”

“दो आने के आलू ।”

“पहले यह बताओ कि तुम हमें पहचानते हो कि नहीं ?” उसने पूछा, उसके रसीले नेत्रों में कोई लालसा-सी छलक उठी ।

“नहीं ।”

“हम पड़ोसी हैं,” वह बोली. “तुम्हारी जिज्जी क्या कर रही हैं ?”

“खाना बना रही है,” विनोद ने ऊब कर कहा ।

“और माधुरी जिज्जी ?”

“वे भी ।”

“और तुम्हारी माता जी ?”

“बैठी हैं,” विनोद ने बेज़ार होकर कहा ।

नसीबन को बच्चों से कुदरती लगाव था । आलू देते हुए बोली, “सबसे हमारा नमस्ते कह देना और देखना रास्ते में बन्दरों से बचना ।”

पास से गुज़रता हुआ लालू साइकिल वाला उसे लक्ष्य कर बोल उठा, “क्या बच्चों को परेशान कर रही है, हमसे बातें कर तो बनायें भी ।”

“मर मर्दुये !” नसीबन ने विष-भरी आँखें तरेरीं, “बच्चों के आगे बातें करते शर्म नहीं आती ।” और उसने ज़रा-सी हँसी दबाकर मुँह फेर लिया ।

लालू अप्रतिभ हो मूढ़ की भाँति बुदबुदाता हुआ आगे बढ़ गया, “एक पहेली है यह भी !”

विनोद झोले को दायें-बायें हाथों में बारी-बारी से बदलता चला जा रहा था । मंगली उसके साथ-साथ चल रहा था, “तुम घर में तमाम दिन क्या करते हो ?” उसने पूछा ।

“पढ़ते हैं ।” विनोद बेज़ार से उत्तर दिया ।

“इससे क्या होता है !”

बिनोद उसे सवालों का महत्व समझाने लगा, “रुपये-आने-पाई का हिसाब जान लेने से आदमी ठीक से सौदा खरीद सकता है। अब देखो...” उसने भोला लम्फाते हुए कहा, “ये दो आने के आखू है। तुम इनके दस पैसे भी दे सकते थे पर मैंने दो ही आने दिये हैं।”

बात मंगली को जँची नहीं। ऐसी बेकार बातों में समय गँवाने का उसे अवकाश न था, “तुम पैसे का हिसाब सीखते हो, पर मैं लाछू की दूकान में साइकिलों में दवा भरके सचमुच के पैसा बनाता हूँ।” और उसने अँगूठे से उंगली लगा इस तरह भटकता जैसे पैसा उछाल रहा हो।

बिनोद सोच में पड़ गया।

शिल्प-भवन की अध्यक्षा श्रीमती गंगोत्तरी देवी अपना भिसान आप थी। चालीस-पैंतालिस की उम्र, गोरा रंग, दुहरा शरीर, तस्से नक्श, आंग के दो चाँड़े दाँतों में जड़ी सोने की दो कीलें और सुनहरा रिम का चश्मा ! जब कन्धे पर साड़ी डाल, हाथ में काला बैग लटका, वे बाहर निकलती थी तो उनका व्यक्तित्व सचमुच रोबीला-सा लगता था। दोनों में सोने की कील के अलावा उनके व्यक्तित्व में और ऐसी कोई चीज़ न थी जो उनके मानसिक विकास की पोल खोल सकती थी।

शिक्षा-दीक्षा उनकी मामूली-सी ही हुई थी। प्रकृति अपना संतुलन रखना खूब जानती है। खुदा गंजे को नाखून नहीं देता। लेडी मैकबैथ की हड़ता और त्रिशंकु की महात्वाकांक्षा उनमें साकार हो उठी थी। ज़बान का जोर अन्टोनी को लज्जित कर सकता था।

उनका दिमाग सदैव तरह-तरह की योजनाओं का अखाड़ा-सा बना रहता था। उन्हें न दिन चैन था न रात नींद। अपनी छोटी-सी गृहस्थी पर डिक्टेटरशिप स्थापित करने मात्र से भला उन्हें क्या संतोष हो सकता था ! कहीं ओस चाटने से प्यास बुझी है ? यह उनके जीवन का दुर्भाग्य था कि उनके पति एक निरीह क्लर्क मात्र थे। साथ ही यह उनके लिए अपनी कुशलता और कर्मशीलता प्रकट कर सकने का सुयोग था।

उनके पति सुबह दस बजे तक नाश्ता तैयार करने, रोज़मर्रा की ज़रूरत की चीज़ें जुटाने के अतिरिक्त रसोई के कामों में उनकी सहायता करते थे। तरकारी काट देना, चूल्हा सुलगा देना इत्यादि वे नित्य नियम से कर दिया करते थे। फिर स्वयं परोस कर खाते और दस बजे चालीस साल की खचड़ा साइकिल उठाकर दफ़्तर भागते थे।

सन्ध्या को लौटने पर चाय पी, खाना खा सो जाने के सिवाय उनकी कोई विशेष महत्वाकांक्षा न रहती थी। लेकिन अक्सर यह पूरी न हो पाती थी। कभी शक्कर नहीं तो कभी चाय की पत्तियाँ नहीं। या अगर वे बाज़ार से जुटा भी लेते तो कोई ऐसा विशेष काम पड़ जाता कि उन्हें श्रीमती जी का साथ देना पड़ता। अगर शाम को गंगोत्तरी देवी ने घोषणा कर दी कि वे आज खाना नहीं खायेंगी (क्योंकि उन्हें स्थायी मंदाग्नि की शिकायत थी) तो उनके पति के हृदय पर क्या बीतती थी, यह बताना मुश्किल काम है। पहले तो वे बार-बार अनुरोध करते कि थोड़ा-सा ही खा लेना, पर यदि वे उस पर राज़ी न होतीं तो झक-मार कर सब्र करके उनको कहना ही पड़ता था, “भूख तो कुछ ऐसी मुझे भी नहीं मालूम होती है.....” और निश्चय होता कि चाय के साथ कुछ नाश्ते से काम चल जायगा।

ज़िन्दगी में उनके लिए सिर्फ़ दो दिलचस्पियाँ थीं। अपने आफ़िस के

बंगाली टाइपिस्ट संतोष के साथ शाम को किसी रेस्तराँ में चाय पीना या फिर उसके साथ कभी-कभी 'लारल-हार्डी' की पिकचर देख आना। पहली दिलचस्पी के बारे में वे बड़े दृढ़ थे। बार-बार उनकी श्रीमती जी ने उन्हें बाज़ार की चीज़ें खाने के दाव समझाये थे लेकिन उनपर कोई असर न पड़ा था। ज़िन्दगी में इसी एक बात पर उन्होंने डट कर श्रीमती जी का विरोध किया था। आफ़िस के बाद रेस्तराँ में चाय पीते हुए संतोष के साथ जो एक-आध घण्टे का समय वे बिताते थे, वह उनकी ज़िन्दगी का हासिल था। दूसरी दिलचस्पी के बारे में वे इतने साबित क़दम न रह पाते थे।

पन्द्रहवें-बीसवें, घर आकर सहमते-सहमते वे भूमिका बाँधने लगते, "आज संतोष कह रहा था कि 'लारल-हार्डी' की बड़ी मज़ेदार पिकचर आयी है, हँसते-हँसते पेट में बल पड़ जाते हैं।" और जब वे उसके कथानक का कच्चा-चिढ़ा अपनी श्रीमती को सुना चुकते थे तो श्रीमती गंगोत्तरी देवी पान की एक ज़बरदस्त पीक खिड़की से बाहर उछालकर, मुँह पोंछते-पोंछते कहतीं, "यह क्यों नहीं कहते सीधे से कि सिनेमा जाना है।"

और वे सहम कर सर झुका लेते या फिर बार-बार दुहराते, "मैंने संतोष से कह दिया है कि मेरा इन्तज़ार न करना, अगर आ सका तो आ जाऊँगा।" अक्सर उन्हें कुछ उपदेशों के बाद पैसे मिल जाते थे और वे कोट कन्धे पर डालकर बाहर सरक जाते थे।

श्रीमती गंगोत्तरी देवी की ज़बान में तेज़ी और अधिकार दोनों ही थे। किसी से भी बातें करते समय उनकी ज़बान बराबर उसे धक्के पर धक्के दे दीवार से पीठ सटाने पर विवश कर देती थी। 'सुनो कम और कहो ज़्यादा' यह उन्होंने अपना मोटो बना रखा था। सभी विषयों में दख़ल रखती थीं और प्रत्येक विषय पर उसके विशेषज्ञ से भी भिड़ने में उन्हें कोई हिचक न थी।

ज़िन्दगी में बहुत से पापड़ बेल चुकी थीं। सूद पर रुपये चलाने की कोशिश उन्होंने की थी। सोने-चाँदी का व्यापार उन्होंने करना चाहा था। किराने की दूकान उन्होंने खोली थी। किराये पर रिक्शे उन्होंने चलाये थे। अपने पति के माध्यम से 'हार्ड स्कूल कोचिंग क्लासेज़' चलाने की कोशिश उन्होंने की थी। बहुत से प्रयोगों के बाद अपनी ढलती उम्र में वे शिल्प-भवन के किनारे आ लगी थीं और उससे चिपक भी गयी थीं। ज़िन्दगी भर की साधना का यह चरम विकास था।

सचमुच शिल्प के काम में उन्हें थोड़ा बहुत दखल था। बुनाई, कशीदा, मशीन से फूल बनाना, चमड़े और प्लास्टिक के काम का कुछ अधकचरा ज्ञान उन्हें था। एक मोटे-से रजिस्टर में सैम्पुल के जो काम उन्होंने सजा रखे थे, वे प्रभावित करते थे। चार-छैं सिंगर मशीनें वे जुटा चुकी थीं, जिनमें कुछ खरीदी, कुछ माँगे की और कुछ किराये की थीं। उनकी संख्या सदैव घटती-बढ़ती रहती थी।

शिल्प-भवन में शिक्षा तो विशेषरूप से शिल्प की ही दी जाती थी लेकिन इसके अतिरिक्त भी बहुत कुछ था। जो लड़कियाँ शिल्प की शिक्षा लेती थीं उन्हें साथ-साथ कुछ साहित्य, विज्ञान, इतिहास, गणित की भी मामूली शिक्षा दी जाती थी ताकि यदि कोई लड़की सिर्फ़ शिल्प-भवन में ही शिक्षा ले तो वह पूर्ण हो सके और कोई कमी न रह जाय। इसके अतिरिक्त उन्होंने एक रुक्मिणी देवी को भी फँसा रखा था जो 'महिला-विद्यापीठ' तथा 'सम्मेलन' की परीक्षाओं के लिए लड़कियों को 'कोच' भी करती थी। वे सचमुच उच्च शिक्षिता थीं। समय के फेर से शिल्प-भवन में आ पड़ी थीं।

उन्होंने भारतीय शिल्प के हास तथा उसके पुनरुद्धार की आवश्यकता पर कुछ पैम्फ्लेट भी छपवाये थे, जिन्हें बैग में डाल वे चन्दा और

लड़कियाँ जुटाने निकला करती थीं। भारतीय गृहस्थ घर की लड़की को जो भी जानने-सीखने की आवश्यकता है, वह सब शिल्प-भवन की शिक्षा से पूर्ण हो जाती है—ऐसा दावा उन्होंने अपने प्रोस्पेक्ट्स में कर रखा था। लेकिन उसके अतिरिक्त भी जो महिला विद्यापाठ या सम्मेलन की परीक्षा ही देना चाहें उनके लिए भी प्रबन्ध था।

शिल्प-भवन धीरे-धीरे उनके लिए कामधेनु सिद्ध हो रहा था। फ़ीस तो वे लड़कियों से जो लेती थीं, वह लेती ही थी, इसके अलावा वे उनके अभिभावकों को और भी तरह-तरह से दुहने का प्रयास करती थीं। कर्शादाकारी का सामान, रेशम की लच्छियाँ, तीलियाँ, प्लास्टिक, नीडल, कापियाँ और पेंसिलें वे 'क्लेयरेन्स सेल' में थोक-भाव से ख़रीद लेती थीं और दुगुने-तिगुने भाव पर लड़कियों के गले मढ़ देती थीं। जो लड़की स्वयं सामान ख़रीदती थी, उस पर वे हृद से ज़्यादा नाराज़ रहती थीं। उनकी लड़कियाँ दूकानों पर अधिक दाम में नक़ली माल ख़रीदकर ठगी जाय, यह उन्हें कतई नापसन्द था। और असली और नक़ली माल की पहचान बेचारी लड़कियों को हो भी क्या सकती थी? गर्जे कि अगर साल में दस लड़कियाँ भी वे फँसा लेती थीं तो अपने पति से तिगनी आमदनी तो कर ही दिखाती थीं। आजकल वे इसका भी प्रयत्न कर रही थी कि शहर के गण्यमान्य सज्जनों और दो एक म्यूनिस्पल मेम्बरों की संरक्षता उन्हें मिल जाय। इसलिए रोज़ ही घर पर किसी सज्जन के चाय का निमंत्रण अवश्य ही रहता था।

इधर वे एक अभाव का अनुभव करने लगी थीं। भले ही लोग उनके आगे मुँह न खोल पाते हों लेकिन अपनी लड़कियों को 'शिल्प-भवन' के सपुर्द करते समय स्वाभाविक रूप से वे जानना ही चाहते थे कि और

कितनी अध्यापिकाएँ शिल्प-भवन में हैं। रुक्मिणी देवी तो परीक्षार्थिनियों को कोच करने में लगी रहती थी, शिल्प-भवन के विशेष कोर्स की सारी शिक्षा का भार उन पर आ पड़ा था। यह बात बताते उन्हें संकोच भी होता था और इससे प्रभाव भी खराब हो जाता था। अतः वे सोच रही थीं कि अगर कोई अध्यापिका और मिल जाय तो काम ठीक हो जायगा।

इसी समय राघव बाबू के द्वारा उनका परिचय प्राप्त कर सिन्हा उनसे मिले और उषा के बारे में बातें चलायीं। उषा मैट्रिक तो थी ही, इसके अतिरिक्त शिल्प के काम का भी उसे थोड़ा अभ्यास था। अन्धा क्या चाहे— दो आँखें! उन्होंने फ़ौरन ही उसे रखने का निश्चय कर लिया। सिन्हा पर एहसान का रद्दा जमाते हुए उन्होंने स्वीकृति दे दी, “वैसे ज़रूरत तो नहीं है और न शिल्प-भवन की दालत ही ऐसी है कि दूसरी अध्यापिका रखी जा सके, पर आपकी स्थिति सचमुच सहायता करने योग्य है। पहली से भेज दीजिए; जो कुछ हो सकेगा, आपकी सेवा करने का प्रयास करूँगी। वह भी तो अपनी ही बेटी है। अभी उसे मैं पैंतीस रुपये दूँगी। लेकिन जैसे-जैसे शिल्प-भवन का विकास होता जायगा उसका वेतन भी बढ़ा दिया जायगा।” और फिर वे सिन्हा को अपने स्वप्नों में उलझाने लगीं कि वे तो चाहती हैं कि शिल्प-भवन को शहर में अपने ढंग की एकमात्र संस्था बना दें। भारतीय शिल्प के पुनरुद्धार में शिल्प-भवन का सहयोग कम न होगा पर लोग बिलकुल रुचि ही नहीं लेते हैं। फिर भी उन्हें विश्वास है कि साधना चाहे जितनी छोटी क्यों न हो, उसका अपना महत्व है। और फिर उगालदान में पान की एक ज़बरदस्त पीक थूक कर उन्होंने इस कण्ट्रैक्ट पर अपनी मुहर भी लगा दी।

सिन्हा को लगा था जैसे वे जी गये हों ।

जब ऊषा पहले दिन काम पर गयी तो उन्होंने उसे हाथों-हाथ लिया । ऊषा की शान्त सौम्य मुखाकृति से उन्होंने समझ लिया कि उससे उन्हें बहुमूल्य सहायता मिल सकती है । उन्होंने उसे फौरन सब्ज़ बाग़ दिखाते शुरू किये, “तुम स्वयं विद्वान हो, तुम्हें तो मात्स्य ही होगा कि प्राचीन समय में भारत की शिल्प-कलाएँ अपनी उन्नति की चरम सीमा पर थी और उस समय युरोप के लोग पेड़ों की छाल पहन कर गुज़र करते थे और कच्चा गोشت खाते थे । दुर्भाग्य से हमने अपने सारे कला-कौशल को भुला दिया है और तुम भारत के पतन को देख ही रही हो । उसका पुनरुद्धार किये बिना भारत का कल्याण नहीं हो सकता । यह व्यक्तियों के प्रयत्न में तो असम्भव है लेकिन सोचा कि प्रयत्न चाहे कितना ही छोटा क्यों न हो, उसका महत्व है । मैंने प्रतिज्ञा की है कि भारतीय कला-कौशल को भारतीय ललनाओं में जगाऊँगी ।” और उन्होंने आवेश में क्षण भर को नेत्र मूँद लिये, “प्रतिज्ञा की है कि नंगे-भूखे रहकर भी शिल्प-भवन चलाऊँगी । और ज़रूर चलाऊँगी ।”

“शिल्प-भवन के शिष्टाक्रम की एक प्रति मुझे भी दे दीजिए, देख डालूँ,” ऊषा ने नम्रता से कहा ।

“भवन क्या आश्रम कहो इसे । भवन लायक क्या रखा है इसमें,” उन्होंने पान चबाते हुए कहा ।

ऊषा चुप ही रही ।

“अरे हाँ, मैं तो बातों में लग गयी । तुमने नाश्ता तो कर ही लिया होगा, चाय पिओगी ? देखो संकोच न करना, अपना ही घर समझो इसे भी ।”

“जी, मैं चाय की आदी नहीं हूँ,” ऊषा बोली।

“बहुत अच्छा, बहुत अच्छा,” उन्होंने पान की पीक निगलते हुए कहा, “इस चाय ने तो और हमारे देश का सत्यानाश कर रखा है। कहा इसी भारत में दूध-दही की नदियाँ बहती थीं और कहाँ आज आतिथ्य-सत्कार के लिए हमारे पास सिर्फ यह नशीला पेय रह गया है। प्रचार के लिए पहले चाय मुफ्त पिलायी जाती थी, फिर एक पैसा मूल्य लिया जाने लगा और अब तुम देखती हो कि दो आने कब तक हो गयी है। है न अंधेर?”

वे ऊषा को साथ ले शिल्प-भवन दिखाने चल दीं।

यह एक साधारण-सा मकान था। दो तल्ला। नीचे एक रसोई और एक आसत आकार का कमरा था। कमरे को उन्होंने रुक्मिणी देवी के सुपुर्द कर रखा था जो लड़कियों को परीक्षाओं के लिए कोच करती थीं। अध्यक्षा ऊषा को ले अन्दर घुसीं। रुक्मिणी देवी उन्हें देखकर अपनी कुर्सी से उठ खड़ी हुई। तीन-चार लड़कियाँ कौतूहल भरी दृष्टि से उन्हें कनखियों से देखने लगीं।

रुक्मिणी देवी दुहरे शरीर, औसत ऊँचाई की एक युवती थीं। उनका चेहरा भरा-भरा और बड़े-बड़े नेत्र सदैव मुस्कराते-से लगते थे। उन्होंने पीले रंग की नीली किनारी की एक साड़ी पहन रखी थी जो उनके साँवले रंग पर खूब फबती थी। अध्यक्षा ने ऊषा का परिचय कराया, “ये शिल्प-भवन में काम करेंगी। पढ़ाई का काम इन्हीं के सुपुर्द रहेगा, मैं शिल्प देखूँगी, वैसे आप शिल्प भी जानती हैं, और आप रुक्मिणी देवी हैं, हमारे कोचिंग क्लासेज़ की अध्यापिका। ये बी० ए० हैं, साहित्य-रत्न हैं, विदुषी आनर्स हैं और भी इन्होंने कितनी ही परीक्षाएँ पास की हैं।”

एक लज्जा भरी मुस्कान रुक्मिणी देवी के चेहरे पर फूट पड़ी। ऊषा को

ऐसा लगा जैसे बादलों को फाड़ कर सूर्य की किरणों फूट पड़ी हों। वे सरलता से बोली, “आप मेरी डिग्रियों से कहीं रोब में न आ जाइएगा। गधे पर अगर सब वेद-शास्त्र लाद दिये जायँ तो वह विद्वान नहीं हो जाता। बोंभ में भी काफी ढो सकती हूँ।”

ऊषा से कुछ उत्तर न देते बना। लेकिन उसे ऐसा लगा जैसे एक ही बात से रुक्मिणी देवी ने उनके बीच की दूरी को एक दम मिटा दिया हो। वह कृतज्ञता से भर उठी। अध्यक्षा ज़रा तेज़ी से बोली, “अच्छा, चलो उपर चले।” रुक्मिणी देवी के पास रहने से वे कुछ कतराती-सी थीं।

वे कमरे से बाहर निकली। रुक्मिणी देवी का स्निग्ध स्वर उसके कानों में पड़ा, “फिर मिलेंगे बहन।”

“ज़रूर,” ऊषा ने सउत्साह कहा और आगे बढ़ गयी।

सीढ़ियाँ चढ़ वे ऊपर के कमरे में पहुँची। नीचे के कमरे के दरवाज़े की बगल में एक शीशे की अलमारी थी जिसमें सलाइयाँ, ऊन के गोले, रेशम की लच्छियाँ, प्लास्टिक इत्यादि का सामान अटा पड़ा था। दरवाज़े के विरुद्ध दूसरी दीवार के समीप दो-दो की कतार में छै सिगर-मशीनें इस ढंग से चुनी थीं कि पहली दृष्टि में जान पड़ता था कि आधा कमरा मशीनों से भरा हो। प्रत्येक के सामने एक स्टूल था। कमरे के आधे हिस्से में दरी बिछी थी। दीवारों पर रास-लीला, कृष्ण और अर्जुन, लीला देसाई का एक-एक चित्र था जिसके नीचे छपा था—रेड बैण्ड सिगरेट पियें! इसी किस्म की तस्वीरों और शीशे के प्रेम में मढ़े रुई से उभारकर बनाये गये कुछ जानवरों—खुरगोश, बन्दर इत्यादि—के चित्र थे जो उनकी कारीगरी के नमूने थे। बीच में सबक पर खुलने वाली एक खिड़की थी जिसके पास एक ईज़ी-चेयर पड़ी थी।

अन्दर घुसते ही मशीनों की आर उँगली से इस प्रकार इशारा कर वे ऊषा को समझाने लगीं जैसे नेपोलियन युद्ध-क्षेत्र में अपने किसी जनरल को आदेश दे रहा हो, “छै लड़कियाँ प्रैक्टिकल कर सकती हैं, छै-आठ-दस तक नीचे बैठकर पढ़ सकती हैं या काठ या प्लास्टिक का काम सीख सकती हैं। इस समय ग्यारह लड़कियाँ हैं। तुम्हें उन्हे साहित्य, सामान्य विज्ञान, गणित, इतिहास, इत्यादि पढ़ाना होगा। इन विषयों में पढ़ाई का स्टैण्डर्ड वही रखा गया है जो वर्नाक्यूलर अपर मिडिल का है। सुना है कशीदाकारी में तुम कुशल हो। अगर ऐसा है तो तुम्हें उसे सिखाने का भी मौका दूँगी। तुम्हारा भी हाथ साफ़ हो जायगा। प्लास्टिक का काम मैं देख लिया करूँगी।”

“ये क्लासेज़ कहाँ लेने होंगे ?” ऊषा ने पूछा।

अध्यक्षा ज़रा अप्रतिभ-सी होकर बोलीं, “रुकमिनी देवी जैसा अलग कमरे का प्रबन्ध तो हो नहीं सकता। फिर साथ में तुम्हें शिल्प का भी काम देखना है, अगर किसी समय मैं न रहूँ, मुझे तो प्रैक्टिकल कराना है— तुम्हारा काम डिस्टर्ब न होगा। हाँ, अगर चाहोगी तो बाद में प्लाईवुड के पार्टाशन से इसी कमरे को दो भागों में बाँट दिया जायगा, लेकिन उससे शो बड़ा खराब हो जायगा।”

उस दिन से दरवाज़े के पास की अलमारी के समीप एक साधारण चेयर आँर बढ़ गयी। जब-जब अध्यक्षा की अलमारी से सामान निकालना पड़ता था, ऊषा के लिए कुर्सी खिसकाना अनिवार्य था।

शिल्प-भवन की शिक्षा देखकर ऊषा को और भी आश्चर्य हुआ। उसे ऐसा लगा कि न तो उन्हे सिखाने की विशेष परवाह है और न लड़कियों में ही सीखने के लिए विशेष आग्रह। वे अपनी कुर्सी पर बैठे-बैठे निरन्तर स्वेटर बुनती रहतीं या नवजीवन अखबार पढ़ती रहतीं और लड़कियाँ जो जी

में आता करती रहतीं। हाँ, जब लड़कियाँ मशीन पर जाती थीं तो ज़रूर अध्यक्षा की दृष्टि दिशासूचक यंत्र की भाँति सदैव उन पर लगी रहती थी और वे बार-बार उन्हें भिड़का करती थीं कि कहीं मशीन का कोई पुर्जा खराब न कर दें। कटाई, कढ़ाई, प्लास्टिक का काम उन्होंने स्कूल के प्रागैतिहासिक काल में किसी लड़की को सिखाया हो, पर इस समय तो उनकी पढ़ाई का यह रूप था—‘निर्मल, ज़रा बिमला को बता दे पर्स कैसे काटा जाता है।’ और आठ-दस दिन बाद, ‘बिमला, ज़रा रेखा को भी देख लेना.....’ यह ज्ञान-दान की परम्परा अविराम गति से चलती जा रही थी। वे कहती, “अपनी मदद आप करने से बढ़कर कोई चीज़ नहीं है।” (Self help is the best help) अध्यक्षा अँगरेज़ी न जानती थीं, लेकिन इंग्लिश-टीचर की मदद से उन्होंने विभिन्न अवसरों पर काम आने वाले पन्द्रह-बीस वाक्य कंठस्थ कर रखे थे। जिनके सहारे वे किसी को इसका विलकुल पता नहीं लगने देती थीं कि वे अँगरेज़ी में कोरी हैं।

लड़कियाँ जंगली पौधों की भाँति शिल्प के जंगल में बढ़ रही थीं। नित मशीन की सुइयाँ तोड़तीं, कपड़े और रेशम खराब करतीं, प्लास्टिक काटतीं और बर्बाद करतीं और फिर अध्यक्षा से दुगने दामों से दूसरा ख़रीदतीं। यह अफ़वाह लड़कियों में बड़ी प्रचलित थी कि जब कोई लड़की साल भर फ़ीस दे लेती है तो अन्तिम दो महीनों में वे अपनी कला के सारे अमूल्य गुण उसे सिखा देती हैं। इसी लालच में सब चलती जा रही थीं।

जब अध्यक्षा किसी को स्कूल देखने के लिए निमंत्रित करती थीं, उस दिन अवश्य शिक्षा में उनकी तत्परता देखने योग्य होती थी।

अपनी शिक्षा पद्धति की विशेषता उन्होंने ऊषा को इस प्रकार समझाया था, “शिल्प कला है, विज्ञान नहीं। अभ्यास ही इसमें सब है। जैसे अधिक

स्नाने से अरुच हो जाता है, वैसे ही यदि जल्दी-जल्दी अधिक बता दिया जाय तो हाथ में सफ़ाई नहीं आ पाती। एक-एक बात को अभ्यास द्वारा पुष्ट कराना आवश्यक होता है। मैं कभी अपना फ़र्ज पूरा करने के लिए कोई काम नहीं करती।”

ऊषा बोली, “आप ठीक कहती हैं।”

वे उत्साह में भरकर बोली, “और क्या, कितनी संस्थाएँ इस तरह की मिलेंगी लेकिन शिल्प-भवन अपने काम में अकेला है। हमारे यहाँ से विद्या-विनोदिनी या विशारद की परीक्षा में जो भी शामिल हुई हैं, एक भी फ़ेल नहीं हुई। यह मेरे यहाँ का रेकार्ड है।”

ऊषा सोचने लगी कि यदि बात सही है तो इसमें उनके लिए तो अभिमान करने की कोई विशेष बात नहीं है।

शिल्प-भवन का सारा काम ऊषा पर ढाल वे निश्चिन्त हो गयीं। उन्होंने अपनी सारी शक्ति प्रचार कार्य में लगा दी। चन्दे की मुहिमें तेज़ हो गयीं। प्रारम्भ में तो संकोच के साथ ऊषा से भी उसकी उपस्थिति या उसके साथ चलने का आग्रह किया जाता था लेकिन जैसे-जैसे अध्यक्षा उसकी उपयोगिता समझती गयीं वैसे-वैसे इन कामों का भी शुमार उसकी ड्यूटी में होता गया।

इसमें उन्होंने दो फ़ायदे देखे थे। पहला तो यह कि शिल्प-भवन में नयी अव्ययिकायेँ कितनी तेज़ी से बढ़ाई जा रही हैं, इसका प्रचार होता था। दूसरे ऊषा के साथ रहने पर लोगों पर प्रभाव भी अधिक तत्परता से पड़ता था और जो काम उनके ज़बान की तेज़ी से मुश्किल से होता था, वह ऊषा की उपस्थिति में बड़ी सरलता से सम्पन्न हो जाता था।

पढ़ाई के काम कम होते गये और वे ऊषा को अपनी दुम से बाँधकर

रखने लगीं। ऊषा का आदर-सत्कार भी बढ़ चला। ऊषा का चेहरा उदास देख वे उसके स्वास्थ्य के विषय में चिन्तित हो उठती थीं। उसके घर की समस्याओं में भी वे अधिक रुचि दिखाने लगी थीं और कई बार आवासन दे चुकी थीं कि कोई आवश्यकता पढ़ने पर उनसे छुपाया न जाय, वे कोई गैर नहीं हैं।

धीरे-धीरे ऊषा की समझ में आता गया कि उसका असली कार्य सिखाना-पढ़ाना नहीं है बल्कि अध्यक्षा के साथ जा-जा कर चन्दा बटोरना है। और इसी के लिए उसे तनख्वाह मिलेगी। ऊषा का मन चिन्तणा से भर गया।

सन्ध्या का नीलगूँ रंग फ़िज़ा में फैल गया था जो धीरे-धीरे पुख्ता होता जा रहा था। आज ऊपर कमरे में कुछ अतिथियों का चाय पर निमंत्रण था। इसलिए पहले से ही सिंगर मशीनें हटायी जा रही थीं। अध्यक्षा ने कई बार ऊषा से कहा था कि वह पार्टी के बाद ही जाय। लेकिन ऊषा रुकने को तैयार न थी। बुआ की तबीयत इन दिनों ख़राब हो गयी थी। आज ही सबेरे राघव बाबू से कहा गया था कि यदि हो सके तो शाम को एक बार डाक्टर सिन्हा को दिखा दें। राघव बाबू तो मुहल्ले में सभी की सहायता करने को तैयार रहते हैं, लेकिन अगर उनके सभी परिचित इस तरह मुफ्त डाक्टर को दिखाने लगे तो फिर बेचारे डाक्टर का तो कल्याण हो जाय। ऊषा बड़ी मुश्किल से राघव बाबू से कहलाने पर राज़ी हुई थी। उमे बढ़ा संकोच लगता था, लेकिन चारा भी क्या था ? शाम को ही वे आने वाले थे, इसलिए ऊषा जल्द घर पहुँचना चाहती थी।

अध्यक्षा से ज़मा माँग वह सीढ़ियाँ उतरी। नीचे के कमरे में टेबुल

पर लैम्प जल रहा था और रुकमिनी देवी अकेले कमरे में बैठी कापियाँ जाँच रही थी। ऊषा कमरे के सामने रुकी, “आप नहीं चलेंगी, बहन जी?”

रुकमिनी देवी ने अपनी मुस्कराती आँखें उसकी ओर उठायी और बोली, “मैं तो कभी इतनी जल्दी नहीं जाती। पर आज तो पाटी है, तुम्हें कैसे छुट्टी मिल गयी.....?”

उनके चेहरे पर एक थकन फैल रही थी। बात करते-करते खाँसी आ गयी और उन्होंने रुमा ल अपने मुँह पर रख लिया, पर खाँसी रुकने में ही न आती थी।

ऊषा बोली, “आपकी तबीयत खराब है।”

“है, ऐसे ही,” उन्होंने उदासीनता से कहा और कापी के पन्ने पर रेड-इंक से काटनी हुई बोली, “कई बार तुमने एक बात कहना चाहती थी। बुरा न मानना।”

“कहिए,” ऊषा ने उनकी सरल आत्मीयता से प्रभावित हो कहा।

“तुम अपने काम से काम रखो, इनके साथ। चन्दा अभियानों से दूर ही रहो तो अच्छा है।” उन्होंने गम्भीरतापूर्वक कहा।

ऊषा से छिपा न था कि रुकमिनी देवी की बात में कितनी चिन्ता, कितना ममत्व छिपा था। दो क्षण उसके मुँह से शब्द न निकल सके। फिर हँसे से बोली, “आपकी बात कभी न भूलूँगी।”

रुकमिनी देवी को फिर खाँसी आ गयी। उससे छुटकारा या मुस्कराती हुई बोली, “जान पड़ता है चलना ही पड़ेगा। अब अधिक काम न कर सकूँगी, मेरा गला बचपन से ही खराब रहा है। ज़रा से मौसम परिवर्तन से ‘टॉन्सिलज़’ बढ़ जाते हैं।”

कापियों का बण्डल सँभालने के बाद वे भी उठकर ऊषा के साथ बाहर निकल पड़ीं ।

हवा में खुनकी थी । आकाश साफ़ दिख रहा था जैसे किन्हीं अदृश्य हाथों ने उसपर चढ़ी फिरती नोचकर फेंक दी हो । तारे कुछ नोकीले हो रहे थे जैसे अभी सान रखी गयी हो । हवा के झोंके बदन में हलकी-सी भुरभुरी पैदा कर देते थे ।

इक्के, तांगे और साइकिलों की ज़ितराई भीड़ से गुज़र कर दोनों आगे बढ़ने लगीं । ऊषा सहायभूतिपूर्ण स्वर में बोली, “आप टान्सिलज़ का अप्रेशन क्यों नहीं करा देतीं । ठीक हो जाता है और अप्रेशन भी आसान होता है ।”

रुकमिणी देवी का मुस्त, मन्द हास्य बिखर उठा, “ना बाबा ! बीमारी का शौक मुझे नहीं है, न वक्त न पैसे !”

ऊषा अपने को रोक न सकी, “क्या देती हैं ये आपको ?”

“तीस रुपये,” उन्होंने बताया ।

ऊषा सन्न रह गयी । साथ ही उसे अध्यक्षा की बात याद आ गयी । ‘हमारे यहाँ से विद्याविनोदिनी और विशारद में जो लड़कियाँ बैठती हैं, उनमें से कभी एक भी फ़ोन नहीं हुई । हमारा रेकार्ड है ।’ उनका जी-तोड़ काम वह रोज़ ही देखती थी । ऐसा भाव उसने उनमें कभी नहीं देखा था कि वे तनख़्वाह लेकर पढ़ा रही हैं !

“आप तो शायद बी० ए० हैं,” उसने पूछा, “यहाँ क्यों पड़ी हैं, बेकार में ?”

वे फिर मुस्करा उठी, “हाँ, बी० ए० हूँ और भी बहुत कुछ । जंगल के पीछे को देखा है, जिसकी शाखें बेडगेपन के साथ आड़ी-तिरछी हो चारों दिशाओं में फैल जाती हैं । मैंने गीता और रामायण के इम्तहान से शुरु

किया। विनोदिनी, विदुषी दिया। मैट्रिक इंगलिश से किया। विशारद किया, साहित्यरत्न किया, इंटर इंगलिश से किया और एक विषय लेकर आगरा यूनिवर्सिटी से बी० ए० भी कर लिया है। बोझ कम नहीं है।”

ऊषा से कुछ कहते न बन पड़ा। ‘पों’ का हार्न बजाते हुए एक मोटर उनके पास से निकली। रुक्मिणी देवी ने उसे हाथ से पकड़ ज़रा-सा अपनी ओर खींच लिया। फिर शांत स्वर में बोली, “कुछ भी ढंग से नहीं हुआ है इसलिए मजबूरी है, अगर पूरे सब्जेक्ट्स के साथ मैट्रिक ट्रेण्ड होती तो भी अच्छा था। उन्हें थाइसिस का रोग है, नौकरी पहले ही छूट चुकी है, डाक्टरों ने लाइलाज बताया है एक छोटी बच्ची है।” वे स्वाभाविक रूप से कहती जा रही थीं।

चौराहा आ गया था। वे बोली, “कभी हमारे घर भी आओ न बहन, दो बातें कर लेने से जी हलका हो जाता है।”

ऊषा का दम-सा घुटने लगा था। लेकिन उनकी बात पर प्रति नमस्कार करते हुए बोली, “ज़रूर आऊँगी। लेकिन आपको भी मेरे घर आना होगा.....”

“अगर मौका मिल सका.....” उन्होंने व्यस्ततापूर्वक क्रदम बढ़ाते हुए कहा।

ऊषा आगे बढ़ी। उसे लगा जैसे दूर से वह रुक्मिणी देवी की ख़ाँसियों का हलका शब्द सुन रही है—उसने एक बार घूम कर देखना भी चाहा, लेकिन आगे बढ़ती गयी।

उसने क्रदम तेज़ कर दिये। जल्द-जल्द क्रदमों से रास्ता तय करके वह मकान के सामने आ पहुँची। अभी वह कुंडी पर हाथ रखने ही जा रही थी कि सहसा माधुरी ने दरवाज़ा खोल दिया। ज़्यादातर खटखटाने पर

दरवाज़ा छात्र जी के घर का ही कोई व्यक्ति खोलता था ।

“तू कैसे जान गयी कि मैं आ गयी ?” ऊषा ने पूछा ।

“वैसे ही,” माधुरी ने कुछ घबराये से स्वरों में कहा, “मैं ऊपर से देख रही थी, बड़ी देर कर दी भी न आज तुमने ।”

ऊषा ने विशेष ध्यान दिये बिना पूछा, “अभी डाक्टर तो नहीं आये न ? और वह माधुरी को दरवाज़ा बन्द करने छोड़ गलियारा पार करने लगी ।

“नहीं जीजी,” माधुरी ने पीछे से उत्तर दिया ।

छात्र जी का दरवाज़ा अन्दर से उड़का हुआ था । रसोई को लक्ष्य करके ऊषा अभ्यास वश पुकारना चाहती थी, “कहिए भाभी, क्या हो रहा है ?” लेकिन उसे याद आ गया कि भाभी आज सबेरे ही कहीं गयी हैं, दो-चार दिन में लौटने की बात थी । मुँह से निकलती बात को उसने रोक लिया ।

‘जो घनीभूत पीड़ा थी.....’

कहण स्वर में प्रसाद के आँसू के मुखपृष्ठ की पंक्तियों को गुनगुनाता हुआ रवि छात्र जी की एक लम्बी कहानी की प्रेस-कापी तैयार कर रहा था। पीड़ा का कारण कुछ अस्पष्ट-सा होने पर भी पीड़ा उमे नीटो-सी लगती थी। फिर कारण ढूँढ़ लेना तो आसान है।

हाल में उसने एक कहानी लिखी थी ‘बन्दर की कार्रवाई’ जिसमें बन्दर महाशय ने कामदेव को अपदस्थ करने की चेष्टा की थी। आमने-सामने दो छतों—एक पर युवक, दूसरे पर युवती। युवती के कपड़े ले भागा बन्दर और आ गया युवक की छत पर। सहानुभूति में युवक ने अपना ताला खींच मारा बन्दर को। वह गया युवती के कोठे पर। ताले और कपड़े के आदान-प्रदान में हो गया प्रेम। प्रेम की पेंगें बढ़ीं। घर वाले अफ़ीम के नशे से जागे

और युवती का ब्याह रचा जाने लगा। उसने खा लिया ज़हर और युवक बाँसुरी के स्वरों में अपनी वेदना घोलने लगा।

ज्ञात्र जी की परम्परा के अनुसार उनके सुयोग्य शिष्य ने कहानी के आरम्भ में नोट दिया था—कहानी में वर्णित सारी घटनाएँ सच्ची हैं। सिर्फ पात्रों के नाम बदल दिये गये हैं। (Truth is stranger than fiction) कहानी से सत्य अधिक आश्चर्यजनक है। उसे बढ़िया हथियार लगता था। निशाना चूकने का कोई भय ही नहीं। अनर्गल लिखो पर क्या मजाल कोई चूँ कर सके। सत्य की छाप उसके अनर्गलपने के दोष को मिटा देगी। कहानी में सचमुच यथार्थ का अंश था। वह इतना कि उसकी खिड़की के सामने वाले दूसरे मकान की खिड़की पर ग्रामोफोन वाली लड़की रहती थी। एक दिन उसने उसे बन्दर का पीछा करते देखा था जो उसका जम्पर ले भागा था। रवि ने उसकी सहायता के लिए निष्फल प्रयास भी किया था। अब अगर पीड़ा हो सकती थी तो केवल बन्दरों की नासमझी पर जो तमाम उत्पात करते हुए भी उसकी कहानी के बन्दर के आदर्श का अनुसरण न कर पाते थे।

ज्ञात्र जी ने कहानी पसन्द की थी और वादा किया था कि वे उसे अपने मित्र सम्पादक 'तरुणी' के पास भेज देंगे। पर एक कठिनाई थी, वह यह कि सम्पादक जी ने ज्ञात्र जी की कहानी के लिए आप्रह्न कर रखा था। कहानी तो थी लेकिन प्रेस-कापी तैयार न थी। ज्ञात्र जी को अवकाश कम था। साथ जाने से उसकी कहानी का भी महत्व बढ़ जायगा, रवि ऐसा समझता था। इसीलिए रवि ने उनकी कहानी भी साफ़ कर देने का काम स्वेच्छापूर्वक ओढ़ लिया था।

ऐसे कामों में लगे रहने के कारण आजकल वह देर से आफ़िस पहुँचता

था। पर अगर कलाकार इस तरह अफ़सर की घुड़कियों की परवाह करने लगे तो कोई बात ही न हुई। कला तो साधना है !

बग़ल की चारपाई पर गृहणी लेटी थीं। आजकल उनके पैरों की तकलीफ़ बढ़ गयी थी। किसी के पकड़ने पर भी ज़मीन से पैर लगते ही वह चीख़ पड़ती थीं। हड्डों के रेशे-रेशे में दर्द फैल रहा था। उस दिन डाक्टर को दिखाने की बात थी लेकिन वे आ न सके थे। आख़िर वे भी क्या करें ! एक दिन की बात दूसरी होती है। फिर उनका बताया इलाज भी तो पूरा नहीं हो पाता है।

इधर दो-तीन रोज़ से माधुरी की भी तबीयत ख़राब रहने लगी थी। कुछ दिनों से वह सुस्त और उदास-सी रहने लगी थी। सुबह-सुबह मतली और कैं शुरू हो जाती थी। शायद हलका बुख़ार भी रहता हो, ऐसा सोचा जाता था। वह भी उनकी चारपाई के पास चटाई पर पड़ी थी। उसकी आँखें मुँदी थीं। चेहरे पर हलका सा पीलापन था और आँखों के नीचे ज़रा-सी स्याही फैल रही थी।

माधुरी ने एक उबकाई ली।

गृहणी रवि से बोली, “ज़रा राधव बाबू से मिल लो। दर्द इधर कई दिनों से बढ़ गया है। अगर डाक्टर आ जाय तो माधुरी को भी दिखा लेंगे। उसकी तबीयत भी काफ़ी ख़राब-सी लगती है।”

अपना नाम सुनते ही माधुरी चौंक-सी पड़ी और सहमे स्वर में बोली, “मेरी तबीयत बिल्कुल ठीक है। क्या हुआ है मुझे ? तुम तो बात का बतंगड़ बना देती हो बुआ।”

रवि का गुनगुनाना रुक गया। काम में बाधा पड़ने के कारण कुछ

बेजारी से बोला, “ठीक तो कहती है माधुरी ! अमृतधारा घर में है ही, दो-चार बार पी ले । बदहजमी से होगा ।”

पर गृहणी की चिन्ता दूर न हुई ।

रवि फिर ध्यान से नकल करने लगा—

‘विवश-सी बाला उसके भुज-पाशों में बँध गयी । उसके नेत्र बन्द थे और वह लम्बी-लम्बी साँस ले रही थी । विस्मृत, खोयी-खोयी-सी जैसे उसे कुछ पता न हो कि वह कहाँ है ! मोहन ने अपने जलते आँठों से उसके काँपते अधरों को ढक लिया । सहसा जैसे वह चौंक पड़ी और अपने को मुक्त करने के लिए बल लगाती हुई घुटे स्वर में चीख-सी पड़ी, ‘हटो, जाने दो मुझे—जाने दो मुझे ।’

अप्रतिभ हो मोहन ने भुजपाश ढीला कर दिया और बोला, ‘तुम भी एक पहेली हो । जाओ, मैं मना थोड़े ही करता हूँ ।’

लेकिन वह गयी नहीं । ज़मीन में नज़रें जमाये अपनी जगह पर खड़ी रही । मोहन उठ खड़ा हुआ और फिर उसने अपने बाजू उसके गिर्द डाल दिये । उसका शिथिल शरीर उसके हाथों में भूल गया ।’

रवि का ध्यान कहानी से हटकर अपनी खिड़की के सामने वाली लकड़ी की कल्पना में जा अटका । वह उसे अपने भुजपाशों में बँधा देखने लगा । यही तो उसका स्वप्न था । बहुत अच्छी कहानी लिखी है च्चात्र जी ने । उसने आदरपूर्वक सोचा ।

रवि ने फिर कहानी में ध्यान लगाना चाहा कि बिनोद हाथ में एक

लिफाफा लिये दौड़ता हुआ आया और ज़ोर से चिल्लाया, “चिट्ठी-चिट्ठी ! बाबू जी की होगी।”

आशा बड़े-बड़े आँसू ढारती चीखती हुई उसके पीछे आ पहुँची, ‘चिट्ठी SS मुझे SS आ SS आ SS भैया S ने छीन.....,’ हिचकियों में आवाज़ दब गयी। डाकिये ने चिट्ठी आशा के हाथों में दी थी, लेकिन फौरन ही चील की तरह झपट मार विनोद ने उसे छीन लिया था और ऊपर भाग आया था।

विनोद उसे चिढ़ाता हुआ बोला, “बुआ किसने दी है चिट्ठी, मैंने या आशा ने ?”

चिट्ठी रनि की ओर बढ़ाकर गृहणी बोली, “देखना किसकी है ?” फिर आशा को चुप कराती हुई बोली “ठीक है, तेरी ही चिट्ठी है, बस अब चुप रह।”

विनोद चिढ़ाकर बोला, “इसे दे चुका वह ! मुझे पुकारा था। यह पहुँच गयी। और कभी दी थी चिट्ठी इसे ?” आशा ने चीखने के लिए फिर मुँह बिसूरा ही था कि वे झुंझलाकर बोली, “चुप, खबरदार अब आवाज़ न निकले मुँह से। रोने का जी करता है कम्बख्तों का। चल विनोद, स्कूल नहीं जाना तुम दोनों को ?”

वे मुँह बनाते हुए कमरे से बाहर हट गये।

रवि खत मरोड़ता हुआ बोला, ‘जीजा जी का है। बीमार पड़ गये हैं, रुपये माँगे हैं।’

“रुपये ?” गृहणी ने एक लम्बी साँस ली और इस तरह मुँह बना लिया जैसे अब कहने के लिए कुछ रह ही नहीं गया है। सब समाप्त हो गया है।

रवि ने फिर से एक बार काम आगे बढ़ाने की चेष्टा की तो देवीदीन ने दरवाज़ा खटखटाया। दरवाज़े के बाहर से भाँकता हुआ बोला, “बहू जी, अब हिसाब हो जाना चाहिए। मुझे भी बच्चों का पेट पालना रहता है।”

गृहणी ने उसके उद्ण्ड रख को देखा और जैसे अपने में ही छुपने का प्रयास करती हुई बोली, “रवि कुछ रुपये तुम्हारे पास होंगे :”

“रुपये तो न होंगे,” रवि हकलाता-सा बोला, “अभी तक आपने कुछ कहा ही नहीं था। कल गंज में छात्र जी ने पच्चीस रुपये की किताबें खरीद लीं। उन्हें देने पड़े। तनख्वाह मिलने पर दे देंगे।”

“शाम को आना,” उन्होंने देवीदीन से भरी हुई आवाज़ में कहा।

“बहू इस तरह कमरत तो करवाइए न। अगर देना हो तो बुलाये, नहीं बता दें—सत्र कर लेंगे। बाज़ आये। अब आप दूध का इन्तज़ाम कर लीजिए।” और वह भुनभुनाता हुआ सीढ़ियाँ उतरने लगा। बेबी के लिए दूध लेना आवश्यक था। उनका दूध तो बहला देने भर को था। पेट भरने लायक नहीं। उन्होंने एक लम्बी साँस खींची।

वे बोलीं, “राघव बाबू से मिल ले ज़रा।”

रवि की दृष्टि घड़ी पर पड़ी। दस बजकर पाँच मिनट होने जा रहे थे। हाथ में लगी घड़ी की प्रत्येक टिक-टिक उसे इतनी साफ़ सुनायी देने लगी जैसे घंटे बज रहे हों। दृष्टि मेज़ पर फिसली और पड़ी छात्र जी की पाण्डुलिपि पर।

‘.....कांता बड़ी-बड़ी सिसकियों के साथ आँसू ढार रही थी।

मोहन हतबुद्धि, मूढ़-सा उसके पास बैठा था। समझ में न आता.....’

‘भाइ में जाय कांता और मोहन,’ रवि ने सोचा और बड़े साहब का खूब जुते हुए खेत की तरह भुर्रियों से भरा माथा उसके सामने नाच उठा।

सत्र की भाँति तेज़ी से खूँटी पर टेंगा पैंट उतार कर वह पहनने लगा।

ऊषा शिथिल रूप से अपने बिस्तरे पर लेट गयी ।

गृहणी बेबी को लिये चारपाई पर ऊँघ-सी रही थीं । बोलीं, “बस अब लेटो मत । हम लोग खा चुके हैं । तुम भी खा लो, फिर माधुरी की तबीयत भी ठीक नहीं है ।”

फिर वे रवि की ओर लक्ष्य कर बोलीं, ‘क्या कहा, राधव बाबू ने?’

रवि बोला, “कहने लगे कि कल सबेरे ही चला जाऊँगा और शर्मा को पकड़ लाऊँगा ।”

“तब ठीक है, माधुरी को भी दिखा देंगे,” गृहणी ने कहा ।

माधुरी शीघ्रता से बोली, “बेकार मैं मेरे लिए परेशान हो । मैं कहाँ मरी जा रही हूँ ?”

माधुरी के स्वर से ऊषा चौंक-सी गयी । प्रतिरोध का स्वर बड़ा स्पष्ट

था। घबराहट भी थी। धीरे-धीरे कई दिनों से उसका व्यवहार और हाल उसे याद आने लगा। ऊषा, पता नहीं क्या सोचकर काँप उठी। बेकार..... उफ़ कैसी वाहियात बातें हम सोच जाते हैं। उसने सोचा।

“तुम अब नीचे ही सोया करो तो ठीक है बुआ,” उसने कहा, “हो सकता है तुम्हें नुक़सान कर जाय। मौसम बिलकुल बदल गया है।”

तभी दरवाज़ा खटका और नसीबन धीरे-धीरे आँगन में आ गयी। सामने आ रुँधे स्वर में बोली, “बहू जी, आपमे एक अर्ज़ करनी थी। आज ख़बर मिली है कि उसे चोरी का इल्ज़ाम लगा कर पुलिस पकड़ ले गयी है, मैं यक़ीन दिलाती हूँ कि वह ज़ालिम और लापरवाह ज़रूर है पर ऐसा नहीं है, वैसे मदों में दूध का धुला कौन होता है?” उगली आवाज़ थरथरा रही थी और बड़ी-बड़ी आँखें नम थीं। ओठों पर पपड़ियाँ-सी जम रही थीं।

ऊषा ने ध्यान से उसकी आर देखा, “कौन?”

“वही”

ऊषा समझ गयी कि अपने पति के लिए कह रही है। बोली, “तुम्हें उससे क्या मतलब?”

“ऐसा क्यों कहती हो बहन?” नसीबन निराह भाव से बोली, “आरत जात का जन्म लेकर ऐसे मौक़े पर कौन रुठा रह सकता है। ज़ालिम है, मेरे साथ बुरा मन्तक़ किया, लेकिन दुश्मन थोड़े ही हो गया इससे?”

गृहणी समझ नहीं पा रही थी कि वे क्या कर सकती हैं। इसलिए बोली, “तो मैं क्या कर सकती हूँ?”

नसीबन ने सुझाव दिया, “अगर आप राघव बाबू से दो लफ़्ज़ कहला दें तो वह छूट जायगा। वे दरोगा को अच्छी तरह जानते हैं।”

ऊषा को उस पर दया आ रही थी। इसके ठसे और ग़रूर के

अन्दर भी ऐसी आरिस्त का दिल छिपा है, कौन कह सकता था। सान्त्वना के स्वर में बोली, “तू परेशान न हो, अगर हमारे कहने से हो जायगा तो हम पूरी कोशिश करेंगे।”

“आप लोगों से ऐसी ही उम्मीद थी,” नसीबन ने कृतज्ञता से झुक कर दोहरे होते हुए कहा।

गृहणी ने कुछ उत्तर न दिया। ऊषा का आश्वासन पा नसीबन धीरे-धीरे नीचे उतर गयी। गृहणी रवि से कह रही थी, “तुम माधुरी की पढ़ाई बिलकुल नहीं देखते हो। कभी-कभी तो कुछ बता दिया करो न।”

रवि इस समय कुछ भी बहाना बना सकने में असमर्थ था इसलिए अनिच्छापूर्वक बोला, “चलो माधुरी, अपनी किताब लाओ।”

ऊषा ने आँखें और कस कर बन्द कर ली। सोचने लगी वह नसीबन की बात—ज़ालिम और लापरवाह—फिर दूध के धुले कौन मर्द होते हैं। उसने अपनी आँखें और कसकर बन्द कर लीं ताकि जिन घृणित चेहरों से वह अपना पीछा छुड़ाना चाहती थी वे दूर हो जायँ। लेकिन सफलता न मिलती थी। रुक्मिणी बहन के सावधान करने के दिन से वह बहुत ही सजग हो गयी थी—लेकिन दो-चार जगह अन्धत्वा उसे चन्दे के लिए पकड़ ही ले जाती थी। ये चेहरे उसे चोभ और वितृष्णा से भर रहे थे। हर क्षण उसे ऐसा लगता था जैसे अब अधिक वह यह सब न सह सकेगी और किसी दिन फूट पड़ेगी। परिणाम जो भी हो।

घुटा स्वर, सर पर गोखुर के आकार की चाँटी, पतले माथे पर त्रिपुण्ड ! तेल से चिपचिपाता हुआ माँसल चेहरा—माँस में धँसी छोटी-छोटी आँखें ! ये ये वैद्य इन्धामनारायण ! स्थानीय आर्य-समाज के अनाथालय के अवैतनिक

सेक्रेटरी ! आर्य समाजी सज्जनों पर उनका विशेष प्रभाव था । अध्यक्षा उसे भी घसीट ले गयीं ।

बैठक में तख्त पर कूथिया चादर बिछी थी और दो गाव तकिये पड़े थे । दीवारों पर वेदों के अनेक श्लोक मोटे अक्षरों में लिखकर लटकाये गये थे । उनका आगमन सुन, खड़ाऊँ खटखटाते हुए गले में रेशमी दुपट्टा ढाले वे आये ।

दोनों ने नमस्कार किया । उन्होंने प्रत्युत्तर में हाथ जोड़े और नौकर से उनके लिए कुर्सियाँ डलवाकर आप तख्त पर विराजमान हो गये । दो परिचित कुत्ते जैसे आपस में मिलने पर दौँत निकाल कर एक दूसरे की अभ्यर्थना करते हैं वैसे ही कुछ देर अध्यक्षा और वैद्य जी दौँत निकाल-निकाल एक दूसरे की कुशल-ख़ेम पूछते रहे ।

“बड़ी आशा लेकर आयी हूँ.” अध्यक्षा ने कहा, “आपने वचन दिया था कि हमारे यहाँ के सामानों को आप बिक्री के लिए अनायालय में रखवा देंगे ।” शिक्षा के दौरान में अध्यक्षा लड़कियों के बनाये अधिकांश कामों को शिल्प-भवन के लिए रखवा लेती थीं, जो इस तरह बेच दिया जाता था ।

वैद्य जी की गन्दी चिपचिपी नज़रें ऊषा के चेहरे पर फिसल-फिसल कर जैसे उसे गन्दा कर रही थीं, बोले, “पर आपने ठीक बताया नहीं कि बिक्री पर आप अनायालय को कितने प्रतिशत दान देंगी ।”

“आप तो वैद्य जी, सब जानते हुए भी बनते हैं । भीख माँग-माँग कर, पेट काट-काट कर किसी तरह शिल्प-भवन चला रही हूँ । यह आपसे छिपा तो नहीं है । हम किस योग्य हैं ।” ऊषा की ओर संकेत कर फिर बोलीं, “इनके वेतन का भार और बढ़ गया है । काम तो खूब बढ़ रहा है शिल्प-भवन का । इनके पिता की स्थिति देखकर इनकार न कर सकी । बेचारे

बड़ी मुसीबत में थे। अस्सी रुपये वेतन, नौ आदमियों का परिवार ! इनकी माँ उठने-बैठने के योग्य नहीं हैं। अन्तिम प्रसव के बाद उनकी टाँगे खुराब हो गयी हैं। आजकल इनके पिता कलकत्ते में हैं, आमदनी का कोई ज़रिया नहीं।”

ऊषा का जी ऐसी बातें सुनकर जल जाता था। कई बार इच्छा हुई कि भिड़क कर उन्हें अपने परिवार का इतिहास सुनाने से रोक दें। लेकिन चुप ही रही। उसका दम घुट-सा रहा था। सदसा वैद्य जी उसपर भरपूर नज़रें जमाकर बोले, “तो आप शिष्य-भवन की नयी अध्यापिका हैं।” जैसे उन्होंने कोई नयी खोज की हो और अभी-अभी ऊषा को देखा हो।

‘कमीना,’ ऊषा ने जीभ दाँतों में काट ली। वे उमसे ही बोल रहे थे, “डाक्टरों इलाज किया होगा, वे इलाज क्या जानें। हाँ, हाथ पैर काटने को कहो तो काट कर रख दें, अपना पता दें, एक बार मैं भी उन्हें देखूँ, आगे ईश्वर की इच्छा।”

ऊषा कोई कड़ी, चुमती बात कहना चाहती थी, पर उमने निरुद्ध उनपर एक तीखी दृष्टि डाली। उमने लगा कि उन घृणिता आंगों में जैसे कुछ चिपचिपा रहा है। वैद्य जी कुछ अचकचाये।

देर तक वे अपने त्याग, अपनी देश-मेवा तथा लोगों की हीन मनोवृत्ति तथा दुर्दशा पर बातें करने रहे। दान वे अपने लिए तो नहीं माँग रहे थे। अंत में चालीस पर सौदा पड़ा। इस बीच फिर वैद्य जी ने उसकी माँ की चिकित्सा करने की इच्छा नहीं प्रकट की।

रवि माधुरी को हिन्दी में माने समझा रहा था। उसके शब्द कभी-कभी ऊषा के कानों में टकरा जाते थे। जुम्नन की खौंसियों की गँज भी

हवा में भटकती हुई कभी-कभी खनखना उठती थी। बिस्तर नम-सा लग रहा था। रवि कह रहा था, “मकड़ी ने मक्खी से कहा, “ऐ सुन्दर मक्खी, तुम्हारी आँखें नीलम की तरह हैं। तुम्हारे पर कितने चिकने हैं। तुम थक गयी होगी। आकर मेरे कमरे में विश्राम करो। अपना गाना सुनाओ, फिर हम मिलकर नाश्ता करेंगे।”

ऊषा सोचने लगी कि इस मकड़ी ने शायद सुनहरे रिम का चश्मा भी लगा रखा होगा।

खाँसियों की आवाज़ और रवि और माधुरी की मिली-जुली आवाज़ दूर होती गयी। उसके बाद नेत्रों के सामने एक दूसरी आकृति उभरने लगी— चुचके आम की तरह चेचकरू चेहरा, चुनी-चुनी मूंछें, पान की अधिकता से काले दाँत, कनपटियों के उड़ते हुए बाल! ये थे प्रसिद्ध समाज-सुधारक वकील तेजनारायण सिंह। विधुर थे और जिन्होंने एक पत्नी-व्रत निभाने के लिए विवाह नहीं किया था।

किसी तरह न माने और चाय पिला कर ही दम लिया। ऊषा ऊब-ऊब कर जल्दी मचाती रही पर उसकी एक न मुनी गयी। समाज का दुर्दशा और विशेषकर स्त्रियों की स्थिति सुधारने की लाखों योजनाएँ उनके सर में भरी थीं। लेकिन उनकी बातें समझने वाले शहर भर में मुश्किल से दस व्यक्ति होंगे। ऐसा लगता है कि उन दस व्यक्तियों में उन्होंने अभ्यक्षा के साथ ऊषा की भी गणना की थी। अभ्यक्षा की ओर मुँह किये, ऊषा को वे अपनी योजनाएँ समझाते रहे। कई बार उत्साह से उन्होंने उसके कंधे पर अपनी उँगलियों से थपकियाँ भी दी और फिर इस तरह से हाथ खींच लिया जैसे अनजान में यह कार्य हो गया हो। ऊषा ने जब अपनी कुर्सी उनसे परे सरका ली तो जैसे उनके चेहरे पर धुआँ-सा छा गया। अभ्यक्षा को भी

खटका और उन्होंने ऊपा पर भर्त्सना भरी एक दृष्टि डाली। लेकिन उसकी दृष्टि में ईंट के जवाब में पत्थर का-सा भाव देख, वे कुछ कुंठित सी हो गयीं।

माधुरी बोल रही थी, “चतुर मक्खी ने उत्तर दिया, मुना है जो तुम्हारा घर देखने जाते हैं, वे वापस नहीं आते।”

माधुरी की आवाज़ फिर धँधुली पड़ गयी। ऊपा के नेत्रों के आगे समाज सुधारक, शिक्षा विशेषज्ञ, वैद्य, आर्य समाजी सेठ, म्यूनिस्पल मेम्बरों के कई घृणित, कुत्सित चेहरे नाच उठे। सब चेहरों में एक निर्लज्ज सवाल था—एक भूख थी। “यह मननीय भेड़िये!” ऊपा ने घबराकर नेत्र खोल दिये।

रवि माधुरी से कह रहा था, “अब कल, काफ़ी हो गया।”

पीपल के पेड़ से हू-हू की तीखी आवाज़ ने उन्हें चौंका दिया। उल्लू की आवाज़ से चौंकाकर कुछ पक्षियों ने अपने डीने फड़फड़ाये और चिमगादड़ें चिचिया उठीं।

माधुरी ने एक झँगड़ाई ले कहा, “चलो जीजी खा लो।”

ऊपा ने ध्यान से उसकी ओर देखा। उसे ऐसा लगा जैसे माधुरी धीरे धीरे कमज़ोर सी हो गयी है। फिर से एक बार जैसे वह सिहर उठी।

माधुरी के साथ वह नीचे रसोई में पहुँची। माधुरी ने खाना उसके सामने रख दिया और कहने लगी, “बेकार में परेशान है, आखिर मुझे क्या है जीजी जो डाक्टर बुलाया जा रहा है, मना कर दो.....”

माधुरी के स्वर का अनुनय उसे खटक उठा। वह खाना छोड़कर माधुरी के पास जा पहुँची और दोनों बाहों से उसे पकड़ लिया। माधुरी पीछे हटी, लेकिन ऊपा ने उसे बलपूर्वक रोके रखा और उसकी आँखों में आँखें डालने की चेष्टा करती हुई बोली, “बता सच-सच, माधुरी क्या बात है?”

इस स्वर में चिन्ता, आर्णका और आज्ञा का ऐसा सम्मिश्रण था जिसके सामने रुकना असम्भव था। माधुरी की पलकें एक बार भी ऊपर न उठी थीं। सहसा वह आँधी से उखड़े वृक्ष की तरह उसकी बांहों में झूल गयी और उसकी बांहों पर सर टिका सिसक उठी।

लौटकर जब ऊपर ऊपर पहुँची तो असंख्य दाँतों वाले भयानक आकाश का जबड़ा जैसे धीरे-धीरे पृथ्वी पर झुकता आ रहा था।

“अरे ! यह क्या है ?” तीखी आवाज़ में आशा चीख उठी । उसकी अन्तसाई आँखों में भय था ।

“क्या है आशा ?” माधुरी ने आशा की बगल में दृष्टि डाली जिस ओर वह भयभीत दृष्टि से देख रही थी ।

रवि भी आशा पर झुक पड़ा । बिनोद भी उच्चक कर उसके कंधे के ऊपर से झाँकने की चेष्टा कर रहा था, “मैं भी देखूँ ।”

एक छोटा सा ताल मसला पड़ा हुआ था । उसके सर का आधा अंश गायब था जिसमें सफ़ेदी और ललाई मिली-जुली-सी झलक रही थी । शरीर खून के सूख जाने से बिपचिपा-सा लग रहा था । रवि की दृष्टि ऊपर गयी । एक चील मँडरा रही थी ।

“चील के मुँह से छूटकर गिर पड़ा होगा,” उसने आशा को ज़रा सा हटाते

हुए कहा ।

“मर गया, मामा जी !” बिनोद ने आश्चर्य से दीर्घ धुमाते हुए कहा ।

“नहीं, ज़िन्दा है, बेवकूफ़ कहीं का,” रवि ने कुछ तीखे स्वर में कहा ।

“क्या है ?” गृहणी ने अपनी चारपाई से अलसाये स्वर में पूछा ।

“कुछ नहीं जीजी, चील के मुँह में एक चिड़िया छूट कर गिर गयी है,” रवि ने उन्हें आश्वासन दिया ।

माधुरी की दृष्टि उस मसले हुए लाल पर पड़ी । दृष्टि दूर हटाना चाहती थी पर हटा न सकी । गहसा उसे उबकई सी आ गयी । एक झटके में उसने मुँह फेर लिया और उठ खड़ी हुई ।

दूर पर बिजली घर की लम्बी चिमनी विप के समान काले बादलों के झुंड के झुंड आकाश में उछाल रही थी । उसने ऊपर दृष्टि उठायी, अभी तक चील आकाश में चक्कर काट रही थी, पर रंगने आदमियों के होते हुए उतर कर फिर से अपने शिकार को ले जाने में हिचक रही थी ।

थोड़ी देर में सब भूल गये और गड़क पर म्यूनिस्पैलिटी की कूड़ा-गाड़ी के पहिये घरघराने लगे । गाड़ी पर बैठा मेहतर भैंसे की पीठ पर ताबड़-तोड़ डंडे जमाता जा रहा था । गाड़ी आगे रेंग रही थी ।

घर भर में आजकल सन्नाटा छाया रहता है । एक उब, एक घुटन-सी जैसे सभी प्राणियों पर छाया रहती थी । प्रत्येक तटस्थ में निष्फल आक्रोश, झुंझलाहट जैसे फूट-फूट पड़ने को रहता था । प्रत्येक व्यक्ति उसी तरह अपने में गुम-सुम लगता था जैसे उस नाव के यात्री जिसमें एक बड़ा सा छेद हो गया हो और निरन्तर पानी भरता आ रहा हो ।

बच्चे भी सहमे-से रहते थे । पता नहीं कब किस बात पर उनके सर पर चपटों की बारिश हो जाय । वे लोगों की दृष्टि से दूर रहने का ही प्रयत्न

करते थे। प्रत्येक व्यक्ति जैसे एक दूसरे से मुँह छिपाता-सा रहता कि जब तक न बोलना पड़े, तभी तक अच्छा।

और आज आकाश में घर को बार-बार अपने वृत्त में लपेटती चील मँडरा रही थी।

धीरे-धीरे सभी लोग नीचे खसक आये। बच्चे नाचें त्वात्र जी के बच्चों से खेलने चल दिये। ऊप्रा रसोई में गयी तो थी लेकिन उसका मस्तिष्क काम नहीं कर रहा था। अब ? अब ? यही प्रश्न उसके सामने चक्कर काट रहा था। लेकिन हर बार यह कोई निर्णय करने में असमर्थ ही रहती थी, 'बुआ—रवि, बाबू जी—राघव बाबू नहीं-नहीं। हाँ, बुआ को जानना ही चाहिए !'

कई बार उसने अकेले में माँ ने बानें करने का प्रयास किया था। लेकिन सुबह गे ही उसे मौका न मिला था। वह डाक्टर के आने से पहले ही माँ से बातें करना चाहती थी, लेकिन यह इतना आसान न था। अंत में राघव बाबू ने दरवाज़े पर धक्का दिया ही।

राघव बाबू मोहल्ले के उन बुजुर्गों में थे जो मोहल्ले का नाक होते हैं। वे रेलवे डिपार्टमेंट के रिटायर्ड क्लर्क थे।

प्रत्येक व्यक्ति का उनमें काम पड़ता था और यथाशक्ति वे प्रत्येक की सहायता भी करते थे। शादी, ब्याह, त्यौहार, ग़मी, सभी में वे पेश रहते थे। अग्रकाश का वक्ता था इसलिए लोगों से मिलते-जुलते रहना ही उनका काम हो उठा था। डाक्टर शर्मा उनके नये दोस्त थे, मिलिट्री से रिटायर होकर आये थे और फिर वे उनका प्रेक्टिस करने का विचार था। राघव बाबू एक-आध बार उनसे मिले और उन्हें आश्वासन दिया कि वे जम जायें। डाक्टर ने एक मोटर गैरेज को किराये पर लेकर अपनी प्राइवेट

दुकान बना ली थी। वे भी राघव बाबू का विशेष ध्यान रखते थे। क्योंकि राघव बाबू की पहुँच बहुत थी, दूसरे वे प्रोपेगेण्डिस्ट बड़े ज़बरदस्त थे।

ऊषा ने चाय के लिए पानी पहले ही चढ़ा दिया था। डाक्टर शर्मा तीन बार पहले भी आ चुके थे। पहले दो बार फ़ीस देने की कोशिश की गयी थी, लेकिन उन्होंने न ली थी। ऊषा को उन्हें बुलवाते बड़ा संकोच होता था। माना वे राघव बाबू के मित्र हैं लेकिन डाक्टरी उनका पेशा भी है। अगर ऐसे एक दर्जन मरीज़ मिल जायें तो चल चुकी डाक्टरी! ऊषा ने बिनोद को नीचे से पुकारा और एक आना पैस देकर इलायची लाने को कहा। कम-से कम खातिर मैं तो कोई कमी न होनी चाहिए।

रवि के साथ डाक्टर शर्मा ने ऊपर कदम रखा। डाक्टर शर्मा की आयु पैंतीस वर्ष की होगी लेकिन उनका चेहरा उन आदमियों का-सा था जिनपर उम्र का कोई प्रभाव लच्छित नहीं होता है। गहरा गेहुँआ रंग, म्याना कद, भरा-सा लम्बा चेहरा। बैग के बिना बड़ी आरानी से लोग उन्हें विद्यार्थी समझ सकते थे। लेकिन मिलिट्री में रह चुकने के कारण उनमें ऐसा ठोस आत्म-विश्वास-सा आ गया था जो प्रभावित करता था।

वे खाकी रंग का पैन्ट और एक भूरे रंग का पुलोवर पहने थे। हाथ का स्टेथिस्कोप उनके डाक्टर होने की घोषणा कर रहा था। ऊषा ने उन्हें नमस्कार किया। उसका प्रत्युत्तर दे, वे कमरे की तरफ़ बढ़ गये।

ऊषा ने चाय की मेज़ सामने लगा दी। शर्मा बोले, “बेकार तकलीफ़ की आपने। अभी मैं राघव बाबू के यहाँ से चाय पीकर आया हूँ।”

“एक कप चाय में क्या होगा, ऊषा ने कहा। उन्होंने बात आगे बढ़ायी, रवि की ओर संकेत कर बोले, “आप भी तो थे। पूछ लीजिए न। घर की

ही बात है। तकल्लुफ़ थोड़े ही होगा।”

“बड़ी कृपा है आपकी।” ऊषा ने संयत स्वर में कहा और प्याले में चाय ढालने लगी। तब तक राघव बाबू भी ऊपर आ गये और बोले, “मैं भी आ गया भाई, चलो ऊषा, मैं यों ही नहीं टलने का, कप निकालना ही पड़ेगा एक और।”

सचमुच मेज़ पर चाय के दो ही कप देख ऊषा शर्म से लाल हो उठी। भाग कर उसने आलमारी से बिना हैंडिल वाला कप भी निकाला और धोकर रवि के सामने रख दिया।

राघव बाबू ने कप रवि के सामने से उठा लिया और बोले, “जो मेरे भाग्य में है, वही लूँगा। इस दूटे हुए बुड्ढे को दूटा ही कप चाहिए, बेटा होशियार है।”

ऊषा चुप रही।

चाय के बाद डाक्टर ने एक बार फिर गृहणी की परीक्षा की और देर तक ध्यानपूर्वक जाँचने के बाद बोले, “अगर एक्सरे हो जाता तो बेहतर था। प्लास्टर चढ़ाना ज़रूरी है.....”

रवि ध्यान से उनकी बात सुन रहा था। वे राघव बाबू से बोले, “मेरे ख़याल से इन्हें रीढ़ की हड्डी का युख़ार है।”

ऊषा सन्न रह गयी। डाक्टर कह रहे थे, “मैंने पहले भी प्लास्टर चढ़ाने को कहा था। पर आप लोगों ने ध्यान नहीं दिया। दवा से काम नहीं चल सकता। एक्सरे ज़रूर होना चाहिए, देखना है हड्डियों का कितना नुक़सान हुआ है।”

ऊषा को डाक्टर की बात लग गयी थी, वह बोली, “कौन बीमार है जो अच्छा नहीं होना चाहता। लेकिन सब की सामर्थ्य तो बराबर नहीं होती।”

और उसे रुक्मिणी देवी के पति की भी सहसा याद आ गयी ।

ऊषा के इस सरल उत्तर ने जैसे सब कुछ बदमजा-सा कर दिया । थोड़ी देर बात-चीत करने के बाद वे उठने ही वाले थे कि सहसा गृहणी को याद आ गया और वे बोलीं, “जा ऊषा, माधुरी को भी बुला कर दिखा दे ।”

“बेकार है माँ,” ऊषा ने कहा ।

“नहीं नहीं, उसकी तबीयत काफी खराब रहने लगी है ।”

ऊषा इसी क्षण के लिए डर रही थी । माँ के आग्रह पर ज़रा भुँमत्ताकर बोली, “दिखाने से ही तो इलाज नती हो जाता । पहले जिसे दिखाया गया है, उसी का इलाज हो ले ।”

“आज मैंने बिना बुलाये एक कप चाय साफ़ कर दी है । इसीलिए ऊषा का पारा गरम हो रहा है ?” राघव बानू ने हँसी में स्थिति को टालना चाहा ।

थोड़ी देर में सब चले गये । विनोद उनके साथ-साथ सड़क तक चला गया । ऊषा रसोई में काम करने चन दी । माधुरी चटाई बिछा, लेंटर कुछ पढ़ने लगी ।

गृहणी कई दिनों से माधुरी के लिए परेशान हो रही थी । आज उन्होंने उसे डाक्टर को दिखाने का निश्चय कर रखा था लेकिन बीच में ऊषा ने भी पता नहीं क्यों टाल दिया । उन्हें बात रह-रहकर खटकने लगी । थोड़ी-थोड़ी देर में वे माधुरी पर दृष्टि जमा देतीं और लगातार कई-कई मिनट तक देखती ही रहतीं जैसे किसी बड़े मनासिक पसोपेश में पड़ी हों ।

ऊषा भी कम दिमागी परेशानी में न थी । वह क्षण टल ज़रूर गया था लेकिन अब जल्द से जल्द माँ को समझाना भी होगा । किन शब्दों में वह उनसे कहे, वह निश्चय न कर पा रही थी ।

ऊषा कमरे में आयी तो गृहणी ने उसे पास बुलाया और बोली, “ऐसा लगता है कि तुम कुछ कहना चाहती हो।”

ऊषा ने जान लिया कि वह क्षण आ गया है, और जैसे भी हो अब कह ही देना है—फिर भी माधुरी के सामने - हरगिज़ नहीं। वह बोली, “जा माधुरी ज़रा देख ले, तरकारी जल न जाय।”

“नहीं रहने दो,” गृहणी ने कठोर स्वर में कहा। फिर वे स्वयं बोलीं, “तुम माधुरी के बारे में कुछ कहना चाहती हो?”

ऊषा की ज़वान नाटू में गड़ गयी। शरीर पसीना-पसीना हो उठा। नेत्र अपने आप नीचे झुक गये।

“तो, सच है.....” गृहणी ने जैसे कुएँ में धंसते हुए अपने से ही प्रश्न किया। ऊषा के नेत्र झुके ही रहे।

दूसरे ही क्षण जैसे भूचाल-सा आ गया। प्राण बचाने के लिए जैसे अन्तिम प्रयत्न किया जाता है वैसे ही अपने पैरों की चिन्ता छोड़ वे एक झटके से उठ खड़ी हुई और दो कदम लड़खड़ा कर माधुरी के सिरहाने आ गयीं।

पत्थर की मूर्ति की तरह वे एक क्षण उसके चेहरे को घूरती रही, “नहीं,” भिंचे हुए दाँतों से शब्द निकला। उनके हाथ ऊपर उठे और उन्होंने अपने सर पर एक दोहथड़ दे मारा। दूसरे ही क्षण नागिन की तरह फुफकारती और अस्पष्ट स्वर में दाँतों से भिंचे ओठों द्वारा कुछ शब्द दुहराती वे दोनों हाथों से उसके सर को पकड़कर बेतहाशा ज़मीन पर पटकने लगीं, खट—खट—प्रत्येक बार वे पहले से अधिक जोर से यह कार्य करती थीं और चीखती जा रही थीं, “मर न गयी, हरामज़ादी पैदा होते ही” और फिर..... खट.....खट..... ।

माधुरी ने नेत्र खोले, फिर बन्द कर लिये । असह्य पीड़ा से उसके चेहरे की प्रत्येक माँस-पेशी सिकुड़ उठी । उसने ओठों को कसकर दाँतों के नीचे दबा लिया ।

यह सब इतनी द्रुतगति से हुआ कि ऊषा सन्न-सी रह गयी । दूसरे ही क्षण जब उसने गृहणी के हाथ पकड़ लिये, तब तक माधुरी का सर लाल हो रहा था । चटाई पर वह जगह, जहाँ उसका सर निरन्तर गिर रहा था, रक्तिम हो उठी थी । ऊषा आवेश में बोली, “चलो हटो, बहूत हो चुका ।”

“क्या,” उन्होंने दाँत पीसे, “इसे ज़िन्दा छोड़कर कभी नहीं ।” और उन्होंने अमानुषीय शक्ति से ऊषा को परे ढकेलना चाहा ।

उसी समय रवि कमरे में घुसा । वहाँ का दृश्य देख उसके होश उड़ गये । बड़ी मुश्किल से निकलती चीख़ दया वह बोला “ऊषा, ऊषा, क्या है यह सब.....” उसका स्वर थरथरा रहा था ।

गृहणी ऊषा के हाथों से छुटकारा पाने के लिए ज़ोर मार रही थी । ऊषा रवि को लक्ष्य कर बोली, “हटाइए इन्हें, खड़े-खड़े क्या देख रहे हैं ! तमाशा तो नहीं हैं कोई ।”

रवि को जैसे होश आ गया । उसने दौड़कर गृहणी को पकड़ा । दोनों ने उन्हें ज़बरदस्ती पकड़कर चारपाई पर लिटाया । वे इस तरह दाँत कटकटा रही थीं जैसे कोई कच्चे चने चबा रहा हो ।

“इन्हे पकड़े रहिए यहीं,” उसने रवि को आदेश दिया । वे अब भी छूटने के लिए ज़ोर लगा रही थीं, “कलंकिनी, हरामज़ादी.....छोड़ दो मुझे ।”

“खून करके फाँसी पाना चाहती हो,” ऊषा ने उन्हें डाँटा ।

अपने को विवश पा वे अपना ही सर पाटी पर पटकने लगीं, “वह तो

लग चुकी ”

माथा फूट जाने से रक्त बह-बह कर माधुरी की आँखों तक पहुँच रहा था। वह फटी-फटी आँखों से देख रही थी जैसे अभी तक सब समझ न पायी हो। उसके ओठ भिंचे थे और काले बालों का एक गुच्छा रक्त से सन कर उसके गालों से चिपक गया था।

गृहणी को रवि के ज़िम्मे छोड़ ऊषा ने कामलता से सहारा दे माधुरी को उठाया और उसे उनकी नज़रों से हटाने के लिए अन्दर की चारपाई पर दरी डाल उसने उसे लिटा दिया।

नीचे आ उसने केटिल में पानी गरम करने के लिए रख दिया। उसने रसोई से रवि को पुकारा। रवि घबराया हुआ रसोई में आकर बोला, “बात क्या है? आखिर कुछ तो बताओ।”

“पहले लपक कर थोड़ा सा दूध ले ला जाज़ार से” ऊषा ने कहा, पर रवि वहीं खड़ा रहा।

“देर पहले ही हो चुकी है। अगर काम हो तो छुट्टी के लिए अर्जी भी भिजवा दूँ। छात्र जी उधर ही जाते हैं, दे देंगे।” रवि ने पूछा

ऊषा भुँभुलता उठी, “कुछ भी कीजिए पर पहले दूध ले आइए।”

उसने कुछ रुई और साफ़ कपड़े लिये और ऊपर जा पहुँची। बिस्तर समेत उसने माधुरी के सर को अपने लुटने पर टिका लिया और धीरे-धीरे रुई के फाटों को गरम पानी से तर करके धोने लगी। माधुरी के ओठ दाँतों की पकड़ से आज़ाद हो चुके थे और वह हलके-हलके कराह रही थी। माथे पर बायीं ओर एक छोटा-सा घाव हो गया था जिस पर तर फाहा रख ऊषा ने बाँध दिया। बालों की रंगी लट को धीरे-धीरे साफ़ किया। एक शांत बच्चे की तरह स्थिर भाव से माधुरी उसकी गोद में पड़ी रही। उसकी

काली जंगली आँखें असह्य वेदना के भार से बोझिल हो रही थीं। उसके गोरे चेहरे पर आँखों के नीचे स्याही के हलके बड़े साफ़ दिख रहे थे। ऊषा ने अपना मुँह नीचे झुकाया और उसकी आँखों को चूम लिया। एक गरम बूँद माधुरी के ओठों पर गिर पड़ी।

“जीजी,” माधुरी ने भरी आवाज़ में पुकारा।

ऊषा चुप रही।

माधुरी का तना शरीर ढीला पड़ना गया और वह उसकी गोद में मुँह डाल सिसकने लगी।

उसके गीले बालों पर हाथ फेरते-फेरते जब ऊषा अपने आप से कह उठी, “उफ़, क्या कर डाला तूने माधुरी।”

माधुरी ने नेत्र उठाये लेकिन जिन नेत्रों को उसने अपने पर झुका पाया, उसमें सिर्फ़ करुणा और व्यथा थी, और कुछ नहीं। उसके नेत्र फिर झुक गये।

रवि दूध ले आया। उसने बनाया कि आज क्षत्र जी को जोरों का ब्लड-प्रेसर का दौरा पड़ गया है और वे कमरा बन्द कर अन्दर पड़े हुए हैं। इसलिए किसी और को ढूँढ़ कर अर्ज़ी भेजनी होगी। यह कहकर वह कमरे में अर्ज़ी लिखने चल दिया। वह यंत्र की भाँति सारे काम कर रहा था पर समझ कुछ न पा रहा था।

ऊषा ने दूध गरम कर शक्कर मिलायी और ऊपर ले गयी। “माधुरी सो गयी?” उसने माधुरी की आँखें बन्द किये देखकर पूछा, “ले दूध पी ले और सो जा।”

“जी नहीं चाहता है,” माधुरी ने छत पर दृष्टि जमाये हुए कहा।

ऊषा चारपाई पर बैठ गयी और उसे उठाकर अपने शरीर से टिका लिया,

फिर गिलास उसके मुँह से लगा दिया। माधुरी का जी सचमुच न करता था। लेकिन चुपचाप दूध पीने लगी। पी चुकने के बाद ऊषा ने उसके ओठ पोंछे और धीरे से उसे लिटा दिया।

अब ?

अब ??

अब ???

आज पहली बार ऊषा की बुद्धि जवाब दे रही थी। कुछ भी निर्णय कर पाने में वह असमर्थ थी। क्या सबसे अच्छा यह न होगा कि बाबू जी को बुला लिया जाय ? पर उसे लगता कि यह भी व्यर्थ है—वे भी आकर क्या कर लेंगे। अभी चार-पाँच महीने बाकी हैं। अगर ग़बर न भी दी जाय तो भी शायद वे साल न पूरा कर सकेंगे। हाँ, अपने स्वास्थ्य से हाथ धो बैठेंगे। पर क्या हो ? हो क्या ? नहीं, आज नहीं.....

आज सोचना उसके बस की बात नहीं है।

माधुरी आँखें बन्द किये निश्चेष्ट पड़ी थी। ऊषा को लगा कि उसे माधुरी की आवाज़ सुननी ही चाहिए, उसे बोलना ही चाहिए।

उसके माथे पर हाथ रखे हुए वह बोली, “अब तो दर्द नहीं है रे।”

“नहीं तो।”

“अच्छा अब तू सोने की कोशिश कर, तबीयत ठीक हो जायगी।”

बीस-पच्चीस मिनट तक खामोशी रही। फिर रवि ने आकर कहा कि वह अर्ज़ा देने जा रहा है।

“उधर से ही चोट के लिए दवा भी लेते आना।”

“मुझे दर्द बिलकुल नहीं है,” माधुरी ने कुछ चौंक कर कहा।

“तू सोयी नहीं, क्या कर रही है पड़े-पड़े?”

माधुरी ने हिचकते हुए कहा, “मुझे लगता है कि उसका सर उतना लाल नहीं था जितना सर कट जाने पर होना चाहिए था। उसके अन्दर सफेदी भी झलक रही थी। सचमुच जीजी।”

“किसका?”

“तुम्हें नहीं मालूम। सबेरे चील के मुँह से छूटकर एक चिड़िया आशा पर गिर पड़ी थी। उसका आधा सर उसने खा डाला था, पर उसका सर उतना लाल नहीं दिख रहा था जितना सर कट जाने पर होना चाहिए था।”

ऊषा रवि को लक्ष्य कर पुकारती हुई बोली, “चार टिकिया थियोगार-डिनाल भी लेते आना।”

वह नीचे कमरे में आयी।

गृहणी का पागलपन दूर हो चुका था। अब ऊपर मुर्दनी-सी झा गयी थी। ऊषा को पास बुलाकर बोली, “क्या हो अब?”

यही तो ऊषा कब से सोच रही थी। प्रश्न तो था पर उत्तर!

सहसा वे स्वर को धीमा-सा करके बोली, “तुझसे कहना तो न चाहिए पर क्या किया जाय। यह डाक्टर बड़ा अच्छा लगता है, राघव बाबू के द्वारा नहीं, अगर वैसे ही तू कहे तो क्या कुछ मदद न करेगा।”

“कैसे?”

“किसी दवा से.....”

ऊषा उनका मतलब समझ गयी। उसका हृदय दहल उठा। “नहीं, नहीं माँ यह नहीं हो सकेगा। इसमें जान का खतरा है। और यह जुर्म भी है.....”

“पागल हो गयी है,” वे कुछ तीव्रता से बोली, “और क्या रास्ता है,

मुझे यकीन है कि अगर तू डाक्टर से बात करे तो ज़रूर वह सहायता करेगा ।”

ऊषा को शिल्प-भवन की अध्यक्षता याद आ गयी । अरे, उसे भी तो ख़बर भिजवा देनी चाहिए थी कि आज वह न आ सकेगी ।

“उनको भी तार दे दे, चले आयें,” गृहणी ने कहा ।

“देखा जायगा, थोड़ा दूध रखा है, पीकर आराम करो फिर.....”

“आराम तो अब दूसरी ही दुनिया में मिलेगा । कहते हुए उन्होंने एक बड़ी लम्बी साँस खींची ।

— — —

सिन्हा के पहले पत्र का उत्तर कुछ भी न जा सका था, कुछ दिनों के अनन्तर उनका दूसरा पत्र घर पहुँचा।

प्रिय बेटी ऊषा,

मैंने एक खत डाला था। मिला होगा। पर कोई उत्तर न मिला। तुम्हारी बुआ की तबीयत में कोई खास परिवर्तन तो नहीं हुआ? तुम लोगों का हाल न मिलने से तबीयत और परेशान है।

अपना हाल न लिखना ही बेहतर है। अगर और कोई चाग होता तो शायद लिखता भी ना! मेरी तबीयत ठीक नहीं हो सकी। ऐसा लगता है कि मलेरिया का विष नसों तक में व्याप्त हो गया है। पढ़ाई-लिखाई भी खास नहीं हो रही है। ऐसा लगता

है कि एक साल भटकना बड़ा था सो पूरा हो गया ।

मैंने सोचा था कि यहाँ टाइपिस्ट या ट्राफ़िस्ट का कुछ काम ढूँढ़ निकालूँगा । लेकिन इस महानगरी में इस तरह बाबूगीरी के काम ढूँढ़ निकालना उतना ही मुश्किल है जितना भूसे के ढेर से सुई ।

मैं ऐसी स्थिति में भी नहीं हूँ कि इच्छा करते ही घर भी पहुँच सकूँ । चल सकना असम्भव-सा है । जिस तरह से भी हो कुछ रुपये भेजो—जितनी जल्दी यहाँ से निकल भागूँ, उतना ही अच्छा है ।

माधुरी, आशा, बिनोद और बेबी को प्यार—अपना हाल जल्द दो ।

तुम्हारा पिता

सिन्हा

गृहणी ने ख़त सुना और दूसरे कान से उड़ा दिया । रवि बाहर खिसक गया । ऊषा ने ख़त पढ़कर एक लम्बी साँस ली और माधुरी के हृदय की धड़कन बढ़ गयी ।

इन दिनों वह सब की नज़रों से बची रहकर जैसे स्वयं अपने में सिमट जाने का प्रयास करती रहती थी । माँ की नज़रों उसपर इस तरह पड़ती थीं जैसे उसकी छाया छू जाने से ही पाप होगा । ऊषा का रूप सद्दानुभूतिपूर्ण अवश्य था लेकिन वह करती भी क्या !

अन्तिम पत्र पढ़ने के बाद तो वह अपने विचारों पर और भी दृढ़ हो गयी थी कि सिन्हा साहब को ख़बर नहीं ही देनी है । ऊषा भी अब तक उनके कथन की सत्यता देख चुकी थी कि साल पूरा करना उनके लिए

असम्भव ही है। हाँ, कोई चमत्कार हो जाय तो बात दूसरी है, फिर इतनी दूर बीमारी की हालत में उनपर ऐसे समाचार का बोझ लाद देना वह व्यर्थ समझती थी। रुपये भेजने की फ़िक्र में वह ज़रूर थी।

गृहणी उसे किसी क्षण भी चैन न लेने देती थीं। डाक्टर के पास जा कर प्रयत्न करने के लिए वे सदैव हठ करती रहती थीं। जितनी ही जल्दी की जायगी, उतनी ही आसानी से काम निपट जायगा

ऊषा ने उनकी बातों पर कान न दिया तो वे दूसरे तरीकों पर उतर आयी।

उस दिन ऊषा ने देखा कि वे धोबिन से धुलधुलकर बातें कर रही हैं। ऊषा को देखते ही वे चुप हो गयी थीं। दूसरे दिन रवि से अनुरोध कर रही थीं कि वह खण्डहर के बग़ल कोठरी में रहने वाली बुढ़िया को बुला दे, उससे कुछ काम है।

ऊषा ने माधुरी को कड़ी ताक़ीद कर दी थी कि अगर उसके न रहने पर वे उससे कोई दवा खाने-पीने को कहें तो वह हरगिज़ स्वीकार न करे।

माधुरी ऐसी बातों पर सदैव डबडबाये नेत्रों से उसकी ओर देखती हुई कहती, “जीजी, तू कब तक यह भार ढोती रहोगी।” और वह अनुरोध करती, “सच जीजी, किसी तरकीब से अगर थोड़ा ज़हर ला सको तो जन्म-जन्मान्तर तक तुम्हारा एहसान न भूलूँगी।”

ऊषा ने अपने चारों ओर दृष्टि दौड़ायी। उसे भी ऐसा लगता था कि उसे भी सान्त्वना और सहानुभूति की आवश्यकता है। रुक्मिणी देवी का ख़याल आया। उसे ऐसा लगा कि इतनी बड़ी भूल उसने कैसे की कि अभी तक यह बात उसे न सूझी।

उस दिन शिल्प-भवन से वह उनके साथ हो ली, “आज आपके घर चलूँगी।”

“चलो,” उन्होंने कहा, “अच्छा है, मैं थक भी बहुत गयी हूँ। तुम्हारे साथ रहने से अच्छा ही रहेगा।”

दो मील का फासला तय करके वह रुक्मिणी देवी के घर आ पहुँची। नीच जातियों का मुहल्ला था यह। दर्बे की तरह घर, आगे गन्दगी का ढेर, बहुत से दरवाज़ों के आगे तो सिर्फ़ टाट लटक रहे थे। मकान छोटी-छोटी लखौटी ईंटों के और कच्चे थे।

रुक्मिणी देवी ने आती हुई खाँसी रोकी और बोली, “थक तो गयी होंगी आप?”

“नहीं,” ऊषा ने उत्तर दिया।

अन्दर से जिस व्यक्ति ने दरवाज़ा खोला उसे देखकर ऊषा सिहर उठी। अवस्था में वह शुबक होगा लेकिन ऐसा लगता था कि शरीर भर में माँस नाम को नहीं है। पिचके गाल, पीला चेहरा और आँखों में रूखी सी चमक।

साथ में किसी और को देख, उसने एक क्षण उसे देखा। फिर खाँसता हुआ बग़ल की कोठरी में चला गया जिसमें एक टूटी चिक पड़ी थी।

अन्दर से एक कोमल स्वर आया, “माँ तुम्हारी चाय लाऊँ?”

“पहले इधर तो आ,” रुक्मिणी देवी ने स्निग्ध स्वर में पुकारा।

दस साल की एक छोटी लड़की, फ्रॉक, जाँघिया पहने दौड़ आयी और दूसरे को देखकर ज़रा ठिठकी। रुक्मिणी की नज़रें टेढ़ी हो गयीं, “प्रणाम नहीं किया तूने?”

बालिका ने जल्दी से अपनी भूल सुधारी। ऊषा ने हाथ पकड़ उसे अपनी ओर खींच लिया, “क्या नाम है तुम्हारा? बड़ी प्यारी लड़की है

...” मुखाकृति में रुक्मिणी के चेहरे की छाप स्पष्ट थी।

“कुमुद।”

सब दालान में आ गयीं। रुक्मिणी ने दालान में ला चटाई बिछा दी और बोली, “अच्छा अब जा इनके लिए चाय ला।”

“बालिका ठिठकी, तुम्हारी चाय।”

रुक्मिणी देवी मन्द स्वर में हँस पड़ी। उस जीर्ण-शीर्ण, पर साफ़ घर में वह हँसी मानो ज्योत्सना बन फैल गयी, “कितनी पागल लड़की है। सब को मेरी चाय पिलायेगी।”

कुमुद लजा कर भाग गयी।

“आप बेकार तकलीफ़ करती हैं, मैं चाय की शौकीन नहीं।” ऊषा ने यों ही कह दिया।

“फिर आतिथ्य सत्कार तो पहले दिन कर ही लूँ।”

दस मिनट में कुमुद ने दो कप लाकर उनके सामने रख दिये।

“आपकी चाय विशेष होती है।”

“हाँ,” रुक्मिणी देवी रहस्यात्मक ढंग से मुस्करायी।

ऊषा के चेहरे पर उत्सुकता देख, उन्होंने अपना कप उसके सामने कर दिया।

“पानी है यह तो,” ऊषा के मुँह से निकला।

“नहीं, बिलकुल पानी तो नहीं है, गरम पानी और नमक है। ख़ाँसी में बड़ा आराम रहता है बहन, इसीलिए पी लेती हूँ।”

“तुम नहीं पियोगी?” ऊषा ने कुमुद से पूछा।

उसने उत्तर नहीं दिया और चिक बाले कमरे में भाग गयी। कप लेकर निकली और रसोई से भर कर अन्दर पहुँचा आयी।

चाय के बाद देर तक वे गप-शप करती रहीं। ऊषा ने साहस से अपनी बात कह ही दी। सुनते ही उनका चेहरा विचारपूर्ण हो गया। गम्भीरता से बोलीं, “बस एक बात कहूँगी, प्रकृति के नियम में दखल देने की चेष्टा न करना.....”

ऊषा चुप रही।

“मेरा मतलब है—दवाएँ, इत्यादि। पाप को पाप से मिटाने की चेष्टा आग पर घी डालकर बुझाने का प्रयत्न है।”

“पर हो क्या?” ऊषा विवश सी बोली।

“इतना आसान तो नहीं है, बहन।” वे गम्भीरता से बोलीं, “अगर पूरा न कर सकी तो पहले से ज़बान से निकालूँगी भी नहीं। लेकिन प्रयत्न भर कुछ उठा न रखूँगी।”

ऊषा को ऐसा लगा जैसे उसकी सारी समस्याएँ हल हो गयी हों। बोली, क्या करेंगी आप?”

“विवाह का प्रयत्न।”

“पर ऐसा कौन.....”

“यही तो समस्या है, सोचना तो यही है।”

उसी दिन दोपहर में गृहणी और खण्डहर के बगल वाली बुढ़िया में यों बातें हो रही थीं।

बुढ़िया कह रही थी, “अब क्या कहूँ, बहू जी—अगर अपनी बेटी होती तो लाकर ज़हर दे देती और उँगली काट देती ज़रा सी। कह देती साँप काट गया। मजाल क्या कि पता लगता।”

गृहणी का चेहरा धुआँ-धुआँ-सा हो रहा था। अनुनय से बोलीं, “अब

तो कुछ कर सको तो करो । मेरे यहाँ तो यह होने से रहा ।”

बुढ़िया अपने गड्ढे में घुसे दीदे घुमाती हुई बोली, “भले घर की बात है, बहू जी । सच, पर कभी किया नहीं । जानती ज़रूर हूँ । एक काढ़ा बना दूँगी, कितने दिन का होगा ?”

“यही दो या ज़्यादा से ज़्यादा तीन ।”

“पर बहू जी है ख़तरनाक काम । तीन महीने बहुत होते हैं । अगर उल्टी-सीधी पड़े, तो मुझे दोष न देना ।”

“कभी नहीं, उल्टे तुम्हारा एहसान कभी न भूलूँगी ।”

माधुरी ने बड़े कमरे में होने वाली उपर्युक्त बातें आँगन की दो फुटी गैलरी में खड़े-खड़े सुन ली थीं ।

एक भयानक हूह की आवाज़ से चौंककर ऊषा जाग पड़ी । उल्लू की बोली से थोड़ी देर के लिए वातावरण सजग हो उठा । पीपल की शाखें हूह की आवाज़ से गूँज उठीं । सोये हुए पत्नी जागकर अपने डैने फड़फड़ाने लगे ।

गला सूख रहा था । ऊषा रसोईघर की ओर चल दी । बाहर निकलते ही उसे ऐसा लगा जैसे एक घुटन-सी मकान में भर उठी है । एक विचित्र-सी बू फैल रही है । ऊपर रवि के कमरे के गिर्द जैसे धुआँ-सा छा रहा है । पानी पिये बिना वह कमरे में लौटी । बदन भर में जैसे काँटे उभर उठे हों, काँपते हाथों से उसने लालटेन जलायी । सब थे लेकिन बिस्तर पर माधुरी न थी ! ऊषा ने झमझम कर रवि को उठा दिया ।

“आओ,” ऊषा ने घुटे स्वर में कहा ।

दो षडयंत्रियों की तरह वे ऊपर भागे ।

“यह गन्ध कैसी है ?” रवि ने नाक सिकोड़ी ।

ऊपर पहुँचने पर दुर्गन्ध तेज़ हो, गयी—मिट्टी के तेल और कपड़े के जलने की गन्ध ! और एक अजीब-सी गाढ़ी, नाक में लिपट जाने वाली बू, फैल रही थी ।

रवि के पैर काँपने लगे । वह ऊपा के पीछे हो गया ।

सिटकिनी बन्द थी । ऊपा को याद था कि अन्दर सिटकिनी के ठहरने का टुकड़ा टूटा है । हाथ से उठाकर बन्द हो सकती है ।

“माधुरी, माधुरी,” उसने काँपती आवाज़ में पुकारा ।

पागलों की तरह उसने दरवाज़े को धक्का देना शुरू किया । सिटकिनी नीचे खसकती जा रही थी । और अन्त में तेज़ आवाज़ से भन्नाती हुई ज़मीन पर गिर पड़ी ।

वे अन्दर घुसे । धुँएँ की अधिकता से लालटेन धुँधला गयी । ऐसे में उन्हें फ़र्श पर एक धूमिल, काले नग्न मानव शरीर को देखने के लिए आँखों पर काफ़ी ज़ोर देना पड़ा ।

ऊपा के मुँह से एक चीख़ निकली ।

रवि के मुँह से एक चीख़ निकली ।

लालटेन छूटकर ज़मीन पर गिर पड़ी और फफकने लगी । माधुरी का अधजला नग्न शरीर तड़फड़ा रहा था । लैम्प फफकी और सपाट सर के फफोले चमक उठे । लैम्प फफकी और उसके काले भयानक चेहरे में सफ़ेद दाँत झलक उठे ।

दोनों ने उस आकार को उठाना चाहा तो हाथ लगाते ही उनके हाथों में खाल चिपक गयी । किसी तरह बाहर निकालकर जब उसे ठंडे फ़र्श पर लिटाया गया तो उसका तड़पना कुछ कम हो गया । गुनगुनाहट जैसी आवाज़ सुन ऊपा ने कान लगाया तो ‘पा’ अक्षर समझ पड़ा । ‘पानी’

उसने रवि को आदेश दिया ।

नीचे गृहणी चिल्ला रही थी, “अरे, कहाँ गये सब, बोलो.....”
गुड्डी टिटिया रही थी । आशा और बिनोद सहमे माँ की चिल्लाहट सुन रहे थे ।

ऊषा ने धीरे से कहा, “बुआ को चाहे आने देना । पर बच्चों को
हरगिज़ नहीं ।”

घर में सन्नाटा था। ऊषा और रवि अपने-अपने काम पर जा चुके थे। बड़े कमरे में तकिये के सहारे लेटी गृहणी आशा के पुलोवर को खोलकर दुबारा बिनने का प्रयास कर रही थीं। इस छेदों भरे पुलोवर से अबकी जाड़ा कटना मुश्किल था।

उनके चेहरे पर मुर्दनी-सी छायी थी। शरीर इतना शिथिल और लटा लग रहा था जैसे कुछ ही दिनों में वह बरसों बूढ़ी हो गयी हों।

उनके दिमाग में था एक भारी शून्य—इस जीवन में तमाम घुटन, वितृष्णा, अभाव, शोक, निष्फल आक्रोश—प्रत्येक भाव अपनी चरम सीमा पर पहुँचकर बह गये थे। अब थी एक मूढ़ता, प्रत्येक स्थिति से लापरवाही और ऐसी लापरवाही जो लम्बी बीमारी का आवश्यक परिणाम है। पिछली सारी घटनाएँ बचपन में सुनी कहानी की भाँति धुँधली-सी लगती थीं।

उन्हें याद करने की विशेष इच्छा भी न थी ।

दिन ढल चुका था । खण्डहर की परछाईं तिरछी सड़क पर दूर तक लेटी-सी जा रही थी । सहसा सड़क पर उनकी दृष्टि गयी । खाकी वर्दी पहने डाक का हरकारा उनके दरवाजे की ओर बढ़ रहा था । उसे देखकर भी उन्हें कोई उत्सुकता न जगी । जब उसने बिनोद को आवाज़ लगायी तो उन्होंने उसे भेज दिया ।

दो मिनट के बाद बिनोद ख़त ले ऊपर आ गया । पहले तो उनकी इच्छा हुई कि ऐसे ही रखा रहने दें, रुपये की माँग होगी । पर पता देखकर उन्होंने उसे खोल डाला । लिखावट बिलकुल अपरिचित थी । वे पढ़ने लगीं—

माता जी,

आप मुझे नहीं जानतीं । लेकिन मनुष्यता के नाते मैं यह ख़त आपको लिखने के लिए विवश हूँ । राधे आपका लड़का है न । पाँच महीने पहले उससे स्टेशन पर मेरी भेंट हुई थी, वह स्टेशन के बाहर बैठा था और लोगों का सामान ढोता था । भले घर का लड़का समझ कर मैं उसे अपने घर लाया । और अपनी चाय की दूकान पर उसे बैठा दिया ।

बात-चीत में धीरे-धीरे वह खुला । घर से निकलने के बाद उसने जो सहा है, वह पत्थर का भी कलेजा दहला देने के लिए काफी है । आप तो उसकी माँ हैं । उसने मजदूरी की है, सड़क कूटी है, फ़ाँके किये हैं और भीख भी माँगी है । और भी जाने क्या-क्या न किया हो !

ऐसी जिन्दगी का परिणाम भी उसे भोगना पड़ रहा है ।

जब मैं उसे लाया था वह बीमार था। मैंने समझा था कि भूख, परेशानी के कारण स्वास्थ्य खराब होगा। ठीक हो जायगा। पर कहते दुख होता है कि उसकी बीमारी ठीक न हुई। डाक्टर टी० बी० बताता है। अब मैं उसे अपने यहाँ नहीं रख सकता। बाल-बच्चेदार घर है और दूकान के ग्राहक भी जान गये हैं।

घर वह किसी तरह खबर नहीं देना चाहता है। मैं परेशान हूँ कि क्या करूँ, क्या न करूँ? अब तक मैं सौ से अधिक उसके इलाज पर खर्च कर चुका हूँ। अगर आपने उसे खत लिखा तो शायद वह कभी लौटने पर राजी न हो और यहाँ से भी चल दे। अगर आप सिर्फ़ किराये भर के लिए पचास रुपये भेज दें तो मैं जैसे भी होगा, उसे आप तक पहुँचा दूँगा। वरना ईश्वर ही जाने उसका क्या होगा। मैं उसे अधिक दिन अपने यहाँ रखने से मजबूर हूँ। लौटती डाक से रुपये भेजें। अगर आप उसे घर बुलाना चाहती हों।

आपका

रामेश्वर (होटलवाला)

२३ विक्टोरिया टरमेन्स

बम्बई।

दूरी में सदैव आकर्षण रहता है। आज उन्हें लगा कि उनकी तमाम सन्तानों में राधे उन्हें सबसे अधिक चाहता था। सदैव चुप शांत रहने वाला राधे! बचपन से ही वह माँ के पास अधिक समय बिताना चाहता था। बाहर की चोटें, डाँट-छपट पढ़ने के लिए सिन्हा की भर्त्सना—सभी से बचने का निरापद स्थान उसके लिए माँ की गोद थी।

एक घटना जो बड़ी नगण्य थी—सहसा उनके अन्तर में सहस्र गुनी बढ़ी होकर जगह घेरने लगी। तीसरी बार जब स्कूल में उसका नाम लिखाने की तैयारी हो रही थी—सन्ध्या समय वह आकर उनकी चारपाई पर बैठ गया और कहने लगा, यह पढ़ना-पढ़ाना मेरे बस का नहीं है, माँ ! तुम बाबू जी से कहती क्यों नहीं। बेकार रुपया फूँकते हैं।”

माँ ! माँ !! माँ !!!

सभी बच्चे उन्हें बुआ कहकर ही पुकारते हैं। राधे भी। लेकिन पता नहीं कैसे ? क्यों उसने उन्हें माँ कहकर पुकारा था। पहली बार उनकी किसी सन्तान ने उन्हें माँ कहकर पुकारा था।

उस दिन उन्होंने इसपर ज़रा भी ध्यान न दिया था बल्कि उसी को झिड़क दिया था, “आखिर पढ़ाई में ऐसा क्या पढ़ाई तोड़ना है। सब करते हैं, सिर्फ तुम्हीं नहीं कर सकते। टेन्थ तो पास कर ही लो।”

वह चुप ही रहा।

सिन्हा के कान में उन्होंने उसकी बात डाल दी थी। सिन्हा ने भी उस दिन उससे कुछ कड़ी बातें की थीं। उसकी बात सुन उन्होंने उसे पढ़ाने का विचार छोड़ दिया था और उसके लिए काम की तलाश करने लगे थे।

एक बार—हाँ, सिर्फ एक बार, और सहसा मुट्ठी में मिंचा खत उन्हें दिख गया। उनका सर तकिये पर लुढ़क-सा पड़ा और उन्होंने कसकर अपने नेत्र बन्द कर लिये। दो क्षण बाद उनकी मोटी बरोनियाँ में आँसू की बूँदें झलकने लगीं। उन्होंने ओठ भींच लिये और एक लम्बी साँस ली।

ऊषा के लौटने पर राधे के प्रश्न पर विचार आरम्भ हुआ। गृहणी ने इन शब्दों में उसका केस रखा, “राधे की ख़बर तीन सालों के बाद मिली

है। वह भी ऐसी हालत में। एक को खो चुकी अब और खोने का साहस नहीं है। चादिए तो था कि कोई जाकर उसे ले आता। लेकिन वह सम्भव नहीं। जैसे भी हो रुपये तो भेजने ही होंगे।”

ऊषा का मन आज बड़ा खिन्न था। उसे लग रहा था जैसे उसके शरीर का जोड़-जोड़ बेकार हो उठा है और अब प्रयत्न करने पर भी कुछ न कर सकेगी। रोज़-रोज़ की परेशानियाँ, सारी गृहस्थी का भार, नये-नये धक्के, शिल्प-भवन की घृणित नीति! सभी जैसे धीरे धीरे उसे खाये जा रहे थे। आज वह अध्यक्षा से लड़ पड़ी थी। अध्यक्षा की तबीयत ठीक नहीं, इसलिए ऊषा को शिल्प-भवन का समान ले जाकर अनाथाश्रम या वैद्य जी के घर छोड़ आने को कह रही थी।

ऊषा को उस व्यक्ति की चिर्पाचिर्पी दृष्टि से बड़ी नफ़रत थी। बहुत दिनों का रुद्ध बाँध आज टूट-सा पड़ा था, “आखिर आज आप इसका निर्णय कर दीजिए कि मेरा असली काम क्या है? चन्दा वसूलना, सामान ढोना या पढ़ाना-सिखाना!”

अध्यक्षा को शायद ऊषा से ऐसी बातें सुनने की आशा न थी। इतनी खामोश, सौम्य लड़की इस तरह का प्रश्न कर बैठेगी, यह उनकी कल्पना से परे की बात थी। चश्मे के अन्दर से वे दो क्षण उसकी ओर घूरती रहीं फिर ज़रा तीखे स्वर में बोली, “मेरी ग़लती थी कि मैंने तुम्हें ‘शिक्षित’ और सुसंस्कृत समझा था। आखिर इसमें क्या रखा है, अगर तुम यह सामान वैद्य जी के घर पहुँचा दोगी तो तुम्हारे क्या लाल भूँड़ जायँगे। इस तरह छुई-मुई बनने से तो काम नहीं चल सकता।”

वे यह सब कह तो गयीं लेकिन इसमें सन्देह नहीं था कि इस अप्रत्याशित प्रश्न ने उन्हें थोड़ा-सा डौंवाडोल ज़रूर कर दिया था।

“मेरे यहाँ तो ऐसे काम नहीं चल सकता है। अभी तक मैं अनुरोध कर रही थी, अब मैं आज्ञा देती हूँ कि तुम्हें जाना ही होगा।” अन्त में वे प्रायः चीखती हुई-सी बोलीं।

“देखिए व्यर्थ मैं गला मत फाड़िए,” ऊषा ने उत्तर दिया, “बय। आपने सोच देखा है शिल्प-भवन चलाये बिना आपका काम नहीं चल सकता था।”

“क्या ?” वे उसे घूर-घूर कर देख रही थीं।

ऊषा ने निर्मम प्रहार किया, “इससे भी अधिक फायदे वाले पेशे हो सकते हैं। उनपर नहीं सोचा कभी आपने ?”

क्षण भर के लिए वे हतबुद्धि सी हो गयीं लेकिन दूसरे ही क्षण जैसे एक ज्वालामुखी सा फूट पड़ा, “नेकी करना भी आज गुनाह हो गया है। तुम्हें रखते समय न सोचा था कि यह नागिन का पालना होगा। मुझे तो तुम्हारे बाप की दीनता और मुहर्मी सूरत पर तरस आ गया था। खैर, साफ़ बात यह है कि मैं बाज़ू आयी ऐसी नेकी से। तुम्हें तो शिल्प-भवन की छाया से भी बचना चाहिए, कहीं मैली न हो जाओ।”

ऊषा ऐसे तो बोलती न थी। पर जब बहुत दिनों के बाद बाँध टूट जाता था तो फिर रुक्मना उसके लिए असम्भव था। एक विषमय मुस्कान के साथ बोली, “भूठ नहीं कहा आपने। कल से नहीं ही आऊँगी.....”

खट खट..... करती सीढ़ियों से उतर वह रुक्मिणी बहन जी के कमरे में पहुँची और बोली, “ऐसा लगता है कि अब मेरा पिंड तो छूट रहा है.....”

एक करुण मुस्कान रुक्मिणी देवी के ओठों पर फूट पड़ी, “मैं तो पहले ही कहती थी। क्या ज़िन्दगी खराब कर रही हो। अगर तुम .फुल-सब्जेक्ट्स से एफ० ए० कर डालो तो इज़ार चाँस मिल सकते हैं। मेरी

१ शुरुआत ही ग़लत हो गयी थी, लेकिन हुआ क्या ?”

अध्यक्षा इनकी मूर्ख न थीं कि अवसर न देखतीं। कहाँ आगे क़दम रखा जाता है और कहाँ पीछे हट जाना बुद्धिमानी है, यह ज्ञान लोमड़ी की तरह से उनके व्यक्तित्व का अंग बन चुका था। ऊषा को अपने कमरे में ले गयीं और चिकनी-चुपड़ी बातें करने लगीं, “मेरी बात पर ध्यान दो। तुमने स्वयं कहा था कि बीमारी के बाद तुम्हारी माँ कितनी चिढ़चिढ़ी और क्रोधी हो गयी हैं। तकलीफ़ में मनुष्य जल्दी भुँक़ला जाता है। मुझे बेकार में ही गुस्सा आ गया था। उन बातों को भूल जाओ। क्रोध को जो पतन का मूल कहा गया है, वह सत्य ही है।”

ऊषा आश्चर्य से इस स्त्री को देख रही थी जो क्षण-क्षण में हजार रंग बदल सकती है। वे कहती गयीं, ‘मैं जानती हूँ कि एक आदर्श लेकर चलने वाले को कहीं-कहीं भुक्ना भी पड़ता है और कभी-कभी तो उसका रूप ही विकृत हो जाता है। मैं जानती हूँ कि इस तरह लोगों के सामने गिड़गिड़ाने में, उनसे सहायता की अपील करने में अपने को काफी ज़लील करना पड़ता है। मैं यह भी समझती हूँ कि जिनके सामने हम श्रद्धा और आदर का ढांग भरते हैं, वे सदैव आदरणीय ही नहीं होते हैं। फिर भी जिन्दगी ऐसी ही होती है। अभी तुमने दुनिया का देखा ही क्या है? फिर भी इतना ज़रूर कहूँगी कि स्त्रियों को स्वयं अपने में ऐसा आत्म-बल पैदा करना चाहिए जिसके बल पर वे बुरे-से-बुरे व्यक्ति के साथ निःसंकोच रह सकें और अपनी रक्षा कर सकें। यह छुई-मुई की भावना—यह भय कहाँ तक उनकी रक्षा कर सकेगा।”

ऊषा ने पहले निश्चय किया था कि उनकी बात पर हाँ या न कुछ भी

न करेगी पर अब उनकी बात पर अपने को न रोक सकी। उनकी आँखों में स्थिर भाव से अपनी आँखें डाल वह बोली, “यह भ्रम कैसे हुआ आपको कि मैं डरती हूँ। वास्तव में मैं इस तमाम विडम्बना से घृणा करती हूँ। हम सब करेंगे, लेकिन देश के उद्धार की बात के पर्दे में! इस अभिनय में सहयोग देना मेरे बस की बात नहीं है। कभी सोचा है कि मेरी नियुक्ति पढ़ाने के लिए नहीं, चन्दा वसूलने में आसानी हो इसलिए की गयी है, क्या आप इस बात से इन्कार कर सकती हैं? इस तरह जो आप पैदा करती हैं, उसमें से पैंतीस रुपये कुत्ते की तरह मेरे आगे डाल देती हैं— और फिर मेरे पिता जी की दयनीय दशा पर एहसान अलग से! आपको अभिमान है कि आपकी संस्था से विनोदिनी और सम्मेलन की परीक्षा में बैठने वाली कोई लड़की फेल नहीं होती। कभी सोचा है कि यह उन्हीं रुक्मिणी देवी के जी-तोड़ परिश्रम का फल है, जिनकी मजबूरियों का सौदा आपने तीस रुपये में कर रखा है.....”

सच्चाई से बढ़कर लोगों का दिमाग़ खराब करने वाली और कोई चीज़ नहीं है। शान्त दृढ़-स्वर में कहा गया उषा का प्रत्येक शब्द उन पर हथौड़े की तरह चोट कर रहा था। वे अपने को न सँभाल सकीं। क्रोध की निस्सारता समझाते-समझाते चीख पड़ी, “कुत्ते की पूँछ कभी सीधी नहीं हो सकती है। ठीक है, कल से तुम्हें आने की ज़रूरत नहीं है।”

राधे के पत्र की बात उसने सुनी। और गृहणी का मन्तव्य भी। रुपये भेजने ही होंगे। कुछ भूँभलाती सी बोली, “बाबू जी का पत्र भी तो आया था, उनके लिए तो नहीं भेजे गये; जैसे वे वहाँ मौज उड़ाने गये हों। आखिर इस उम्र में इतना कष्ट वे क्यों और किसके लिए सह रहे हैं, बेसहारा

लकीरे

विदेश में पड़े हैं, बीमार हैं। उनके लिए रुपये नहीं और एक मूठ चिट्ठी पर पच्चास रुपये भेज दिये जायें। आखिर क्या सबूत कि उसने ही लिखा है।”

“तुम्हारी समझ में तुम्हारे सिवा सारी दुनिया मूठ और बेईमान है। उसे क्या पड़ी थी, मूठ लिखने की?” गृहणी ने कहा।

रवि ने भी उनकी हाँ-में-हाँ मिलायी, “लिखने से तो बात मूठ नहीं जान पड़नी। घर का पता, राधे की बातें, कैसे उसे मालूम हो जाती?”

“क्या यह नहीं हो सकता कि कभी वह राधे से निना हो और उनका पता जान लिया हो अब घर से रुपये ऐंठने की फ़िक्र में हो। क्या सबूत कि राधे अब भी उसके पास है।”

“तुम्हारा तरह अङ्गनमन्द और दूसरा थोड़े ही है कोई।” वे विवशता की झल्लाहट में बोली, “इतने दिनों बाद लड़के की खबर मिली, वह भी इस हालत में—सब मूठ सही लेकिन रुपये ज़रूर जायेंगे। लड़के के नाम पर ख़ैरात ही सही।, और उन्होंने आज़ातमक स्वर में कहा, “रवि कल राधव बाबू से किसी तरह इन्तज़ाम करवा कर रुपये भेज दो।”

सबेरे से सभी चीज़ें उसके सत्र की परीक्षा कर रही थीं। उसे उस दिन की बात भूनी न थी कि ऐसी हालत में सिन्हा को लौटने के लिए रुपये भेजने में किती किचकिच की गयी थी। तब कहीं जाकर वह उन्हें किराये के लिए पैतरीस भेज राखी थी। कभी-कभी इन्सान में चोट पहुँचाने की इच्छा तीव्र रूप से उभर उठती है और रोकना मुश्किल हो जाता है। दबता से बोली, “नहीं, उधार लिये जायेंगे रुपये। आखिर यह सब बोझ किसके सर चढ़ रहा है। कल बाबू जी आ जायेंगे, वे जो ठीक समझेंगे,

न करेगा जब पैसे-पैसे की मोहताजी है, इतने रुपये भाड़ में नहीं भोंके जा सके। क्या पता, राधे ही रुपये ऐंठने के लिए यह जाल नहीं करवा रहा है। उसके लिए कोई मुश्किल नहीं है।”

“और सुनो, इसकी बातें,” गृहणी विवश क्रोध से चीख पड़ी, “भाई से इतनी जलन। जैसे यह मुझे खाना कपड़ा देती है। अच्छा न लिये जायें रुपये। रवि तुम मेरा हार बेचकर राधे को रुपये भेज दो। यह हार न तेरा बनवाया है न तेरे बाप का। मैं भाड़ में भोंकूंगी। देखती हूँ कौन मेरा हाथ पकड़ता है। जिससे न देखा जाय अपनी आँखें फोड़ ले।” बेबी चौंककर रो पड़ी। वे उसकी पीठ ठोकने लगीं पर उसका स्वर ऊँचा होता गया। सहसा गृहणी ने उसकी पीठ पर दो जोर के हाथ जमा दिये, “मर कमबख्त। सभी मिलकर मुझे खाये जाते हैं।” उसकी रिरियाती आवाज़ रात के सन्नाटे में फैलने लगी।

रवि बेचारा हत-बुद्ध सा सब देख रहा था। “रहने दीजिए,” उसने कहा और बेबी को उठा कर पुच्छकारने की असफल चेष्टा करने लगा।

बिनोद और आशा दिन भर के ऊधम के बाद थक कर सो रहे थे।

बन्द कमरे के अन्दर बाहर से जुम्मन की खाँसियों की आवाज़ ऐसी सुनायी दे रही थी, जैसे बन्द कफ़न के अन्दर से मुर्दा खाँस रहा हो।

प्लेटफार्म के एक छोर से दूसरे छोर तक चेतना की एक लहर दौड़ गयी। भड़भड़ाकर लोग खड़े होने लगे। कुलियों ने बाकायदा मोर्चा बन्दी कर ली। हॉकर, फल, खिलौने, अखबार वाले सभी उस ओर केन्द्रित हो उठे।

लाइन पर धीरे-धीरे इंजिन का आकार प्रकट होने लगा—पहले वह आकार स्थिर सा लगता रहा, फिर धीरे-धीरे विशाल अजगर की तरह बल खाती ट्रेन के डिब्बे मोड़ पर दिखायी दिये और चीखता-दहाड़ता दानव असफल रोष में फुस्कारता आकर रुक गया। क्षण भर के लिए एक हड़बड़ी सी मच गयी। उतरने वालों का रैला, चढ़ने वालों की जल्दी! सरसाम के मरीजों की तरह खोंचे वाले, अखबार वालों की आवाजें, खड़खड़ाते हुए ठेले—चीख पुकार। तरद-तरद के उबलते हुए स्वर! इस जंगल के बीच

से गुज़रती हुई ऊषा धीरे-धीरे प्रत्येक ढिँच्चे से उतरने वाले यात्रियों को ध्यान से देख रही थी ।

सहसा सिन्हा साहब पर उसकी दृष्टि पड़ी जो कुली के सिर पर बिस्तार और सन्दूक लदवा चुके थे और जैसे चलने का इरादा कर रहे थे. पर ठिठक से रहे थे “बाबू जी,” कहती हुई ऊषा ने तेज़ी से उनकी ओर क़दम बढ़ाये । जिस तेज़ी से उसने क़दम बढ़ाये थे वह अन्त तक स्थिर न रह सकी । समीप आने के पहले ही जैसे एक तेज़ झटके से वह बीच में ही रुक गयी ।

उनकी आँखें एक-एक ईंच गड्ढे में घुसी थीं और चेहरे पर जैसे सिर्फ़ खाल मढ़ी रह गयी हो । बाल आधे से ज़्यादा सफ़ेद से लग रहे थे । ऐसा लगता था जैसे सारे शरीर का सत निचुड़ सा गया हो । उनके तमाम व्यक्तित्व में थकन, उदारी और निराशा जैसे साकार हो उठी हो ।

ऊषा को जैसे रुलाई-सी आने लगी । अपने को सँभालकर उसने पूछा, “जब इतनी तबीयत ख़राब थी, तो आप छोड़-छाड़ कर चले क्यों न आये ?”

सिन्हा साहब ने अपने सूखे ओठों पर ज़बान फेरी, कुछ उत्तर देना चाहते लेकिन फिर चुप ही रह गये । फिर चुपचाप कुली को संकेत किया । वह आगे-आगे चल पड़ा । पीछे से मौन भाव से वे दोनों । ऐसा लगता था जैसे संसार में कोई ऐसी बात न रह गयी थी जिसे वे कर सकें । यदि उन्हें हज़ारों मील तय करना हो तो भी शायद वे बात-चीत का विषय ढूँढ़ न पायेंगे ।

बाहर आ सिन्हा ने इशारे से ताँगे वाले को बुलाया और सामान रखवा .कुली को विदा कर दिया । ऊषा ताँगे के पीछे थी और सिन्हा साहब आगे । ऊषा ने ताँगे वाले को पता बताया । ताँगे वाले ने घोड़े की पीठ पर चाबुक

मारा और ताँगा तेजी से चल पड़ा ।

सिन्हा सामने दृष्टि जमाये आकाश को देखने की कोशिश कर रहे थे लोकन रास्ते की बड़ी कोठियाँ, होटल, कई-कई मंजिला विशाल इमारते आकाश को सैकड़ों टुकड़ों में बाँट रही थी ।

ऊब कर उन्होंने ऊषा की ओर देखा—जुवान पर ओठ फेरे जैसे कुछ कहना चाहते हों, फिर ओठ काँपे और भिंच गये । सचमुच कुछ भी तो कहने लायक न था ।

ऊषा एक टक ताँगे के नीचे से भागती सड़क पर दृष्टि जमाये थी जो साँप की तरह सरसराती हुई उसके नीचे से निकलती जा रही थी—भागती जा रही थी । उसका सर ज़रा-सा तिरछा होकर ताँगे के राड पर टिका हुआ था । सजीव सजाटा, खामोशी और भागती सड़क.....

कमरे में शमशान की सी खामोशी छा रही थी। दरवाज़े बन्द थे, मेज़ पर लैम्प जल रहा था। दो चारपाइयों पर लिहाफ़ों से ढके कुछ आकार निस्पन्द थे। तीसरी चारपाई पर सिन्हा साहब लेटे थे, पर बार-बार करवटें बदलने से लग रहा था कि वे सोये नहीं हैं। मेज़ के सामने कुर्सी पर बैठी ऊषा एक किताब पढ़ रही थी और अपने सामने खुली कापी में पेंसिल से कुछ नोट करती जा रही थी। खिड़की के सामने लटकाया गया टाट का पर्दा जब हवा के झोंके से हिल उठता था तो खिड़की के सीखूँचे किसी देव के आहिनी दाँतों की तरह झलक उठते थे।

धीरे-धीरे सिन्हा साहब ने पैरों से लिहाफ़ नीचे ढकेल दिया और बेचैनी से उठ बैठे। आइट पा ऊषा ने किताब से दृष्टि उठायी—रात बीत चुकी थी, उसके चेहरे पर थकन के चिन्ह थे, आँखों के पपोटे कुछ भारी

हो रहे थे ।

“अभी तक सोये नहीं बाबू जी ?” उसने पूछा, “इतनी रात गयी, आप सोने की दवा क्यों नहीं खा लेते ?”

“कितना सोऊँगा अब ?” सिन्हा साहब घुटे हुए स्वर में बोले, “क्या कभी तू मुझे जागने न देगी ।”

“आखिर आप बेहतर में इतनी चिन्ता क्यों करते हैं ?” ऊषा ने क्षीण मुस्कराहट के साथ कहा, “क्या आपको मुझ पर विश्वास नहीं है ? यह नवम्बर है, तीन-चार महीने और हैं, मैं पास हो ही जाऊँगी और फिर कहीं-न-कहीं नौकरी मिलेगी ही ।”

सिन्हा साहब चुपचाप स्लीपर पहन रहे थे ।

“कहाँ जा रहे हैं आप ? ऊपर ! आखिर इतनी सर्दी में.....” “अक्सर रात में बेचैनी के साथ ऊपर टहलते हुए सिन्हा के कदमों की चाप से ऊषा सिहर उठती थी !

सिन्हा साहब मुस्कराने की चेष्टा करते हुए बोले, “डर नहीं तू, मैं तेरी बात समझता हूँ । मैं मूर्ख भले ही हूँ पर कायर नहीं हूँ ।”

ऊषा कुछ कुंठित सी हो गयी । सचमुच जब सबके सो जाने पर वह एकांत में उन्हें कोठे पर जते और फिर घंटों टहलते देखती थी तो जब तक वह नीचे न उतर आते थे, उसके कान बराबर कोठे की ओर लगे रहते थे । पर उसके लिए रोज़ का नियम हो गया था । दरवाज़ा खोल देती थी और हवा के सड़सड़ाते भोंकों को सहती निरन्तर ऊपर ध्यान लगाये रहती थी । बार-बार आवाज़ें देती और अक्सर स्वयं भी ऊपर चली जाती थी ।

ऊषा फिर से अपनी किताब पढ़ने लगी । उसके कानों में सिन्हा साहब के ऊपर चढ़ने की अस्पष्ट पद-ध्वनि साफ़ सुनायी पड़ रही थी ।

सिन्हा साहब अँधेरे में टटोलते से ऊपर चढ़ रहे थे। आँगन में आ उन्होंने एक बार रवि के कमरे पर दृष्टि डाली जिसमें ताला लगा दिया गया था। इधर जुम्नन की खाँसी से छात्र जी की साहित्य-साधना में काफी विघ्न पड़ने लगा था इसलिए वे उस मकान को छोड़कर दूसरी जगह जा बसे थे। रवि को उन्होंने बताया था कि वे अपनी जिन्दगी का मास्टर-पीस लिख रहे हैं, जिसकी नायिका हिन्दी उपन्यासों में ढूँढे भी न मिलेगी। जो विरह की ज्वाला बर्दाश्त करने के बजाय अग्नि की लपटों को हृदय से लगा लेना श्रेयस्कर समझती है। उन्होंने रवि को भी सलाह दी थी कि अगर साहित्य में कुछ करना चाहते हो तो शांत वातावरण में बसो और उन्होंने अपने नये घर के करीब एक कमरा भी उसके लिए ठीक कर दिया था, जहाँ से वे उसकी सहायता भी आसानी से कर सकते थे।

अक्सर इस कमरे के सामने पहुँचने पर सिन्हा के मन में अन्दर जाने की इच्छा उठती थी। पर पता नहीं जब से वे रात को ऊपर टहलने लगे थे, ऊषा इस कमरे में ताला लगाना कभी न भूलती थी।

दिन की रोशनी में वे कमरे के अन्दर गये थे। अलमारी के पास संकेत कर ऊषा ने घुटे स्वर में कहा था, “यही जगह है।”

कोई भी विशेष चिन्ह इस जगह न था—सिर्फ उस जगह के ऊपर छत काली पड़ गयी थी। धुँएँ के कुछ जाले, अलमारी के नीचे का ज़रा-सा भुलसा दरवाज़ा—वे इतनी देर तक इस जगह को देखते रहना चाहते थे कि उसका एक-एक कण उनके मस्तिष्क में जम जाये, पर रात के एकांत में, सन्नाटे में, जब कोई उन्हें देख न रहा हो।

उनके कान बजने से लगे। गृहणी का स्वर गूँज उठा, “लो डाक्टर हो आये अब तो कलेजे में ठंडक पड़ी, दो कम हुए और तीसरे की बारी है।”

तीसरा संकेत उनका अपनी ओर था। हार बेच कर दो काम किये गये थे, एक तो राधे को पच्चास रुपये भेजे गये थे लेकिन उत्तर नदारद था। दूसरे गृहणी की टाँगों पर कमर तक प्लास्टर चढ़ा दिया गया था। अब वे हिलडुल भी मुश्किल से सकती थीं। प्रत्येक व्यक्ति उनसे कतराता था क्योंकि जब घर-बाहर के किसी व्यक्ति को वे पा जाती थीं तो फिर उनकी बातें बन्द ही न होने पाती थीं। राधे, माधुरी और अपनी नर्कमय ज़िन्दगी— इत्यादि इत्यादि.....

आकाश बिलकुल साफ़ था। चाँदनी छिटकी हुई थी। तारों की ज्योति निष्प्रभ थी। वे मुँडेर के सहारे खड़े, खण्डहर के पीपल के हिलते पत्तों पर चाँदनी की किरनों का नर्तन देख रहे थे। हवा के झोंकों से पीपल के पत्ते इस तरह खड़खड़ा रहे थे जैसे ज़ारों से टाइपराइटर इस्तेमाल किया जा रहा हो। उन्होंने अपने हाथ मुँडेर पर रख लिये और इस तरह उँगलियाँ चलाने लगे जैसे कुछ टाइप कर रहे हों। उनकी दृष्टि खण्डहर पर थी, कोने में दीवार की ऊँचाई तक पहुँचने वाले मलबे के ढेर पर टूटी बोतल की एक गर्दन चमक रही थी।

उन्हें लग रहा था कि इन ठंडी हवाओं में भी वह ठंडक नहीं है जो उनके दिमाग़ को शीतल कर सके। इस चाँदनी में भी वह रोशनी नहीं है जो उनकी आँखों के आगे के अंधकार को चमका दे। शंतिंग करते इंजनों की फुस्कार और तीखी सीटियों में बल नहीं कि वे उनके कानों के पर्दों से टकरा सके।

एक तेज़ तारा टूटा और आकाश पथ में एक चमकदार रेखा खींचता हुआ गुम हो गया। उनके दिमाग़ में भी जलते शब्दों की कई रेखाएँ खिच गयीं जो उन्हें ज़बानी याद हो चुकी थीं—

'The services of Mr. Sinha are hereby terminated with effect from 15th November. His one month's notice pay shall be given to him in lieu of time.'

(मिस्टर सिन्हा की नौकरी १५ तारीख से समाप्त की जाती है । उन्हें यथा समय एक महीने की अतिरिक्त तनख्वाह दे दी जायगी ।)

“बाबू जी, आइए ना ।” ऊषा ने नीचे से आवाज़ लगायी ।

वे चुप रहे । एक व्यंग की मुस्मान उनके आँठों पर खिंच उठी । ऊषा कहती है चार महीने हैं, इण्टर पास करते ही उसे नौकरी मिल जायगी । मैंने कहा था, एक साल की बात है—एक साल.....

जोर से उन्होंने दीवार पर हाथ पटक़ा । रुकी-बन्द भाग्य रेखा, सूर्य रेखा, मेडिकल हाथ ! वे दीवार पर हाथ रगड़ने लगे जैसे रगड़-रगड़ कर वे अपने हाथ की सारी रेखाएँ मिटा देंगे । हाथ उन्होंने ऊपर उठाया और उसपर लगी मिट्टी को फूँक से उड़ाने लगे ।

आकाश से चाँद जैसे निरन्तर पृथ्वी पर एक धुँध-सा बरसाता चला जा रहा था । सारी चीज़ें उस धुँध में लिपट चुकी थीं—सफ़ेद, नरम धुँध ! आँखों को धुँधला देने वाली धुँध !

वे तेज़ी से आँगन के चक्कर लगाने लगे । ऊषा फिर पुकार रही थी, “अब आइए बाबू जी, सदीं लग जायगी ।”

“इतनी जल्दी,” वे सोच रहे थे, “ऊषा कहती है, चार महीने—इंटर पास करते ही.....”

उसकी हकिमनी बहान जी ने उसका दिमाग़ ख़राब कर रखा है ।

“और मेरा ? मेरा ??” प्रदन जोरों से उनके मस्तिष्क से टकराया । उनके दाँत किटकटा उठे, सदीं बढ़ती जा रही थी । फिर वे मुँडेर के सामने

खड़े हो गये । नीचे पीपल का पेड़, गिरी दीवार, मलवे का ढेर—उस पर चमकती बोलल की एक गर्दन—ऐसे खड़ा है यह खण्डहर ? वे सोच रहे थे ।

मुँडेर पर टिके होने के कारण सबक पर पड़ती उनकी परछायाँ खण्ड को छू रही थी ।

तभी सीढ़ियों पर पग-ध्वनि गुनायी पड़ी ।

बड़ी-बड़ी आँखें

बड़ी-बड़ी आँखें—श्री उपेन्द्रनाथ अश्क का नवीन-तम उपन्यास है। अश्क का यह चौथा उपन्यास है और यद्यपि उनके अन्य उपन्यासों के सामने यह कलेवर में लघु है, पर विचारों की प्रौढ़ता और कला की परिपक्वता में उनसे कहीं आगे है। भी सुमित्रा नंदन पंत ने इसे पढ़ कर गीत-उपन्यास का नाम दिया है।

बड़ी-बड़ी आँखें—मध्य पंजाब के उन्मुक्त वातावरण की रोमानी कहानी है। अश्क ने इसके रोमानी पट पर एक आदर्श-वादी युवक की निष्कलुषता, और अन्तर्द्वन्द्व का ऐसा सुन्दर और मर्मस्पर्शी चित्र खींचा है कि यह कहानी यथार्थ की भूमि पर टिकी, हलके रोमानी कुहासे में लिपटी-लिपटी एक दम सूर्य की ज्वाला और आभा से भर उठी है।

बड़ी-बड़ी आँखें—का यह आदर्श—कड़े सपने देखने के लिए अन्तर की बड़ी आँखें चाहिए—यथार्थ की कठोर धरती पर टिका है और वह आत्म-शक्ति प्रदान करता है, जो निराशा और वेदना के अँधेरे से आशा और विश्वास के उज्ज्वले की ओर बढ़ने का साहस देती है।

बड़ी-बड़ी आँखें—की शैली में अश्क का वही चुटीला और पैना व्यंग्य सर्वत्र व्याप्त है। भाषा की प्रबलमानता और सादगी अश्क की वही पुरानी और बेजोड़ है, जो इस उपन्यास में कहीं-कहीं गीतिमय हो उठी है। मोनो की छपाई, एंटिक कागज मूल्य ४।

